Chapter-4

चतुर्थ अध्याय

सामाजिक व्यंग्य

'साहित्य' समाज का दर्पण है और मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, इसलिए साहित्य में मनुष्य की विविध गतिविधियों एवम् सम्पूर्ण भावनाओं का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है। उसे समाज की मान्यताओं, उनकी समस्त कमजोरियों अथवा न्यूनताओं को समझते हुए भी उसे उनका पालन करना पड़ता है। आज समाज में स्वार्थ, भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद, कथनी-करनी में अन्तर, उत्कोच, ऊँच-नीच का भेदभाव तथा विभिन्न सामाजिक अन्ध-विश्वास बड़े पैमाने पर फैले हुए हैं, जो व्यक्ति और समाज दोनों को जर्जर और बेजान बना रहे हैं और जिससे व्यक्ति का समूचा व्यक्तित्व ही नहीं, मानवता के स्वीकृत मूल्य भी खतरे में पड़ गए हैं। पारिवारिक एवं पारस्परिक सम्बन्धों में तनाव और विघटन आ रहा है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्वार्थसिद्धि में लगा है, चाहे वह साहित्यकार हो या पत्रकार, डाक्टर हो या दुकानदार, पुलिस वाला हो या सरकारी बाबू। समाज और मनुष्य अभिन्नार्थक सूत्र हैं। मनुष्य को मनुष्यत्व की श्रेणी प्रदान करने वाला समाज ही साहित्य में चित्रित होता है इसीलिए साहित्य को समाज का दर्पण कहा जाता है। समाज के विधान को दुर्बल बनानेवाली प्रवृत्तियों के चक्रव्यूह को तोड़ने का साहस एक मात्र व्यंग्य में ही हो सकता है। जन्म से विवाह पर्यन्त दहेज इत्यादि समस्याओं के साथ-साथ जातिगत ऊँच-नीच का भेद, कुरीतियों आदि समस्त त्रुटियों और विकृतियों को सामाजिक चेतना का स्वर प्रदान करना व्यंग्य के सिवा किसी और के वश की बात नहीं है। अत: वह व्यंग्य जो सामाजिक चेतना की रुग्णता की खोज कर उसे सामाजिक मंच पर प्रस्तुत करता है, सामाजिक व्यंग्य होता है। सामाजिक क्षेत्र में ऐसी रूढ़ियाँ, जो करीब-करीब सामाजिक चेतना को क्षयोन्मुखी बनाती हों, के विरुद्ध भी व्यंग्य अपने साथ तीक्ष्ण शस्त्र रखता है। समाज के व्यापक सन्दर्भ में व्यक्ति और सामाजिक सम्बन्धों की परीक्षा, विघटनोन्मुखी पारिवारिक उत्तरदायित्व की समर्थ अभिव्यंजना व्यंग्य साहित्य में उपलब्ध होती है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारतीय समाज में एक नया मोड़ आया है। समाज का प्रत्येक वर्ग स्वातंत्र्योत्तर सार्थक मूल्यों और प्रतिमानों के निरीक्षण में संलग्न है। भारतीय समाज में न केवल राजनीतिक, आर्थिक स्तरों पर ही नए संदर्भ अन्वेषित किए है अपितु सामाजिक स्तर पर भी नए संदर्भो को अन्वेषित किया है। भारतीय ग्रामीण समाज में जो परिवर्तन होते आए हैं उनके परिणामस्वरुप उसका आर्थिक, राजनीतिक, शैक्षिक और धार्मिक व्यवस्थाओं से अधिक प्रभावी एकीकरण हुआ है। आधुनिक भारतीय सामाजिक ढाँचे के मूल में अर्थ-व्यवस्था का विशेष स्थान है। भारतीय सामाजिक प्राचीन व्यवस्था-जातिप्रथा आज असंख्य वर्गो में विभक्त हो चुकी है। आधुनिक समाज मुख्यत: दो तत्वों पर आधारित है- प्रथम; उसका संगठन तथा उसे निर्देशित करने वाली सामाजिक संस्था के विभिन्न वर्ग। द्वितिय; समाज द्वारा उद्बुद्ध उसकी रहन-सहन प्रणाली, प्रथाएँ एवम् सामाजिक मूल्य और मान्यताएँ हैं। आज समाज के बहुसंख्य वर्ग ने प्राचीन मूल्यों और मान्यताओं को अस्वीकार कर दिया है। वर्तमान सामाजिक ढ़ाँचा 'आर्थिक जीवन' और 'सामाजिक दृष्टिकोण' इन दो घरातलों पर स्थित है। आज समाज में बड़ी-बड़ी जातियों का निर्माण हो रहा है जो आर्थिक पेशों और धन्धों पर आधारित है। इन जातियों में राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रों में एक-दूसरे से आगे निकल जाने की होड़ लगी है। आर्थिक स्थिति को प्रधानता मिलने के कारण आज समाज के उच्चवर्ग (पूँजीपति वर्ग), मध्यम वर्ग तथा निम्न वर्ग में विभाजन हो गया है। पूँजीपति वर्ग यद्यपि आधुनिक सामाजिक दृष्टिकोणों का स्वागत करते हैं किन्तु उसके पीछे उनकी शोषण करने की दूषित मनोवृत्ति कार्यरत है।

भारत की अधिकांश आबादी गाँवों में बसती है। यदि विस्तृत रूप में अध्ययन किया जाय तो हम पाते है कि प्राचीन भारत के जो नैतिक मूल्य, आदर्श एवम् मान्यताएँ थी वह अभी भी यदि कहीं बची खुची हैं तो निश्चय ही भारतीय गाँवों में, किन्तु इन्हीं गाँवों में आज सामाजिक विसंगतियाँ इतनी व्यापक रूप में फैल चुकी है कि, इन विसंगतियों की आड़ में समस्त प्राचीन मान्यताएँ निर्मूल्य हो गई हैं। नगरीय जीवन भी सामाजिक विकृतियों से बुरी तरह संत्रस्त है। गाँव हो या शहर सभी

अंचलों में समाज के ये विष फैल चुके हैं। आंचलिक उपन्यासों में उपर्युक्त सामाजिक विकृतियों एवम् असंगतियों पर भी व्यंग्य किए गए है। उपन्यासकार अपनी पीड़ा और व्यथा को, जो सामाजिक विसंगतियों के कारण उत्पन्न हुई हैं, व्यंग्य के माध्यम से व्यक्त करने एवम् इन विसंगतियों को समाज के सामने नग्न रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। आंचलिक उपन्यासों में लेखकों ने निर्वैयक्तिक दृष्टि से समाज की समस्त ज्वलन्त समस्याओं एवम् विसंगतियों को व्यंग्यात्मक रूप में हमारे समक्ष रखा है।

भारतीय समाज नें आधुनिक काल से ही संयुक्त परिवार प्रथा का तिरस्कार करना प्रारम्भ कर दिया था। आज भारतीय समाज ने संयुक्त परिवार प्रथा का पालन करने से इन्कार कर दिया है। उससे सम्बद्ध समस्त मूल्य एवम् प्रतिमान आज अमान्य हो रहे हैं। इसके परोक्ष में आर्थिक व्यवस्था उत्तरदायी है। आंचलिक उपन्यासकारों ने आधुनिक समाज के पारिवारिक टूटन एवम् घुटन की प्रतिक्रियात्मक आलोचना को भी व्यंग्य का स्वर प्रदान कर समाज के सामने प्रस्तुत किया है। निम्नवर्ग अपेक्षाकृत अधिक आर्थिक संकटों सें जूझ रहा है। उनका शोषण लगातार बढ़ता जा रहा है। परिणामत: उनका अपना परिवार भी टूटने लगा है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पहले से ही पारिवारिक सम्बन्धों में तनाव और विघटन के लक्षण दिखाई पड़ने लगतें हैं। रिश्तों की सार्थकता का कोई औचित्य नहीं रह गया है। फणीश्वर नाथ 'रेणु' के शब्दों में "आज व्यक्ति बर्तन की तरह टूट रहा है। माता-पिता, भाई-बहन और पति-पत्नी जैसे पवित्र रिश्तों में दरारें आ चुकी हैं। खून का रिश्ता पानी हो रहा है।"[१] शिवप्रसाद सिंह कहते हैं- "एक गरीब परिवार के उजड़ने का दर्द अनुभव करना शायद ऊपर-ऊपर की बनावटी बात है। अपने जीवन की नीरसता यदि किसी दूसरे की व्यथा के भीतर से ही कम होती तो ऐसा अवसर भी छोड़ने को कोई तैयार नहीं। यही मनुष्य की नियति है।"[२]

'पानी के प्राचीर' का नीरू रह-रह कर अपनी गरीबी से तंग आ जाता है। साथियों के द्वारा किए गए मजाक से वह खीझता है-"ऐसा नहीं

---

१. हिन्दी व्यंग्य उपन्यास, पृष्ठ-११८

२. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ-८३

है कि गरीबी के दुःख का अनुभव उसने पहली बार किया हो, मगर आज के अनुभव की तिक्तता कुछ और ही थी।''[१] सुमेश पाण्डे अपने बेटे नीरू को पढ़ाना चाहते थे किन्तु अर्थाभाव में उसकी पढ़ाई के बारे में सोचना भी दुश्कर था। ''बेटे को कौन नहीं चाहता? मगर नीरू की पढ़ाई-लिखाई और भावी समृद्धियों से बढ़कर सत्य था खेतों में काम करना, घर का करना जिससे इस गरीब परिवार का पोषण हो सके।''[२] नीरू घर की लगातार बिगड़ती हुई आर्थिक स्थिति को देखकर तड़प रहा था-''न पढ़ने ही जा सका, न नौकरी ही कर सका। दोनों ओर से जिन्दगी अकारथ जा रही है। क्या करूँ, क्या न करूँ? उपवास पर उपवास हो रहे हैं, गहने और बर्तन-भांड़े पहले ही बनिया के पेट में जा चुके हैं। उधार कोई देता नहीं। पहले ही कई रुपयों के कर्ज की काली छाया घर को दबोच रखे है। जिसने एक रुपया दिया उसने दस लिख लिए हैं। मुखिया खार खाये बैठा है; कभी भी अपने रुपये के लिए खुराफात कर सकता है। खेत रेहन पड़े हुए हैं। खेत में कुछ हो या न हो, मालगुजारी तो देनी ही पड़ेगी। कई साल की मालगुजारी बाकी है। अब की कुर्की होकर रहेगी। लीला विवाह लायक हो रही है; केशव की पढ़ाई का सवाल है। मैं घर में सब से जेठा लड़का हूँ।''[३] 'अलग-अलग वैतरणी' में 'पुष्पा' के घर कुर्की आ रही है, उसे इस बात की विशेष चिन्ता है कि, कुर्की की बात से उसके बाबू को सदमा न पहुँचे क्योंकि वह बीमार भी चल रहे हैं। वह विपिन से कहती है- ''बाबू ने मालिक काका से रुपया लिया था, आजी के किरिया-करम में। दो सौ या तीन सौ, मैं ठीक नहीं जानती। बाबू कहते हैं कि, वे अपनी तनख्वाह में से कटाते रहे, पर वो मुआ नवजादिक मुन्शी कहता है कि, नहीं, एक पैसा भी नहीं दिया है अब तक। सो कुल चार सौ रुपये का मुकदमा चलाया। उसी की कुर्की है विपिन। तुम जानते ही हो, चार-पाँच साल से पैदा एकदम नहीं हो रहा है। खाने तक के लिए उधार लेना पड़ रहा है। फिर कहाँ से देते बाबू चार सौ रुपया। जाने क्यों नाराज हैं तुम्हारे भैया हम लोगों से।

१. पानी के प्राचीर, पृष्ठ-२१
२. वही, पृष्ठ-३०
३. वही, पृष्ठ-१०६

.....मेरा करम ही ऐसा है विप्पी, मैं किसी को दोष क्यों दूँ। यह धरती फटती भी नहीं कि मैं समा जाऊँ। जाने किस साइत जन्मी कि,......।''[१]
उपर्युक्त विसंगतियाँ आर्थिक संकट के कारण उत्पन्न हुई हैं। अर्थाभाव में मध्यम एवं निम्नवर्ग की दशा का विश्लेषणात्मक अध्ययन आंचलिक उपन्यासों में दिखाई पड़ता है। इसी तरह न जाने कितने गरीब किसान-परिवार धन के अभाव में बरबाद हो जाते हैं। सभी गरीब, मजदूरों, किसानों की स्थिति अर्थाभाव में एक जैसी हो जाती है। ''दरबार में बीसों किसान पकड़कर लाए गए थे। सबके-सब फटेहाल, नंगे बदन, धूल-धुसरित सर वाले। मुंशी जी सबको बारी-बारी से मुर्गा बनाकर पीट रहे थे, चिलचिलाती धूप चोट के ऊपर लेपन कर रही थी.... नीरू देख रहा था। उसका दिल कटा जा रहा था। उसने गरीबी भोगी है। इसलिए गरीबी और कातरता की साक्षात प्रतिमाओं की भीगी व्यथाएँ उसके हृदय में बरस रही थीं। वह देख रहा था- इन किसानों के घर पर दर्द से टूटती हुई एक अर्धनग्न नारी है, जवानी के भार से गाती और अभावों के श्रृंगार से बोझिल एक बेटी है, टूटी मड़ैया के नीचे बड़े पेट वाला एक लड़का भूख से छटपटाकर रो रहा है। आह..... उसे घर की याद आ गई-माँ, केशव, लीला, पिता.... गरीबी.... गरीबी.... गरीबी।''[२]

पारिवारिक बिखराव के अनेक कारणों में, आपसी द्वेष भी प्रमुख कारण है। यह विसंगति मुख्यत: मध्यम एवम् निम्न कोटि के परिवारों में बहुतायत दिखाई पड़ती है। आंचलिक उपन्यासों में लेखकों ने इस विसंगति पर धारदार व्यंग्य किया है। 'मैला आंचल' में रमजूदास की स्त्री फुलिया के जलते हुए दिल की बात जानती है- ''अरे फुलिया की माये! तुम लोगों को न तो लाज है न धरम। कब तक बेटी की कमाई पर लाल किनारी वाली साड़ी चमकाओगी? आखिर एक हद होती है किसी बात की! मानती हूँ कि जवान बेवा बेटी दुधार गाय के बराबर है। मगर इतना मत दूहो कि, देह का खून भी सूख जाए।''[३]

---

१. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ-७५

२. पानी के प्राचीर, पृष्ठ-१६०-१६१

३. मैला आंचल, पृष्ठ-५९

'परती: परिकथा' का महीचन, अपनी बेटी पर जन्म के बाद से ही दाँत कटकटाता है -''साली इतनी गोरी कैसे हो गई!' सौर घर में ही घुस कर उसने अपनी स्त्री को लात से मारते हुए कहा था -'अब बोलो! यह गोरी-लारी छौंड़ी मलारी कहाँ से आयी? इसका मुंह भोगेन्दर सिंह भूमिहरवा के जैसा क्यों है ?''[1] बेटी को लेकर पति-पत्नी में तनाव का रेखांकन भी कहीं-कहीं पर व्यंग्य की तीखी भाषा में हुआ है। 'जूलुस' में पवित्रा को किसी छोटी-सी गलती पर उसकी माँ उसे पीटती है, पिता के हस्तक्षेप करने पर पवित्रा की माँ व्यंग्याक्षेप करती है -''पागल तुम हुए हो। जवान लड़की को बगल में लिटाकर कहानी सुना रहे हो? यही क्या ढंग है बेटी और बाप के बैठने लेटने का? तुम बुढ़ापे में बुढ़भस कराओगे! पूछती हूँ, यह कहाँ का लाड़-दुलार है? जवान बेटी का सिर छाती पर रखकर सहलाते हुए कहानी कहना! मैं सब कुछ देख रही हूँ।''[2] निम्न वर्ग के पारिवारिक विघटन का एक और दृश्य देखें-''एक गूँगा और बौड़म चमार था। पहला पति मर जाने के बाद रुपउली में यह दूसरी शादी की थी उसकी माँ ने। नई गृहस्थी में उस चमारिन के कई एक लड़के हुए जो अब सयाने हो रहे थे। नये पिता को पुराने पिता के पुत्र से कोई दिलचस्पी नहीं थी।''[3]

केवल निम्न वर्गों अथवा गरीबों में ही यह विसंगति व्याप्त नहीं है अपितु उच्चवर्गों एवम् पूँजीपतियों के परिवारों में बड़े पैमाने पर यह विसंगति दृष्टिगोचर होती है। यह अवश्य है कि, अपनी इज्जत, आबरू बचाने के लिए वे पारिवारिक विघटन की बातों को छुपाये रखने की कोशिश करते है मगर क्या यह भी छुपने वाली बात है? आज नहीं तो कल पोल खुलेगी ही खुलेगी। 'अलग-अलग वैतरणी' में सुरजू सिंह की बेहुदी फटकार से हरिया आवेश में आ गया और वहाँ उपस्थित भीड़ की ताकत को अपनी भौहों से थाहते हुए बोला-'' कहीं गुस्से में जबान खुल गई तो पछताओगे। हममें से किसी के खानदान की बातें छिपी नहीं है, हाँ। गुस्से के कारण हरिया के पैर जैसे मन-मन भर के हो गए। दालान

---

१. परती: परिकथा, पृष्ठ-२५१

२. जुलूस, पृष्ठ-६२

३. बाबा बटेसरनाथ, पृष्ठ-१२२

की जमीन को धसकाता ओसारे से बाहर हो गया। सुरजू सिंह एक टक देखते रह गए। खानदान की बातें! कौन है गाँव में, जो उनके परिवार की बातें नहीं जानता? उन्हें सोच-कर ही इनकी गर्दन लज्जा से झुक जाती है, पर आज तक किसी ने भी उनके मुँह पर उन बातों का जिक्र करने का कभी साहस नहीं किया।''[1] 'जुलूस' में पहलवान रनबीर सिंह के दरवाजे से दस रस्सी दूर ही कामदेव को पता चल गया-'' आज तीनों पुतोहू एक ओर गई हैं, पहलवान की ओर दो ही हैं। छोटी पुतोहू सदा भगवान की ओर से झगड़ा करती थी। पुतोहू-पार्टी में उसके मिल जाने से बहुमत के साथ बहुबल भी हो गया है।''[2]

मनहर चौहान ने बड़ी घर की बहुओं की दयनीय स्थिति का जिक्र करते हुए तीक्ष्ण व्यंग्याक्षेप किया है। 'हिरना सांवरी' की हिरना हवेली के बारे में बहुत बड़ी बड़ी बातें सुन रखी थी। वह पहली बार हवेली में गई थी। बड़ी बहू नें दाऊजी के लिए पान पहुँचाने के लिए उसे ऊपर भेजा था। मुरारी दाऊ के भय से वह जल्द ही भाग कर वापस बहुओं के पास आ गयी थी। छोटे बहू के पूछने पर कि 'क्यों हिरना, ऊपर का कमरा कैसा लगा ?वह मुस्करा कर रह गयी थी- ''बहुओं ने भी बहुत कम बार ऊपर का कमरा देखा होगा। ऊपर जाने का कोई मौका उन्हें नहीं पड़ता था। उन्हें तो बस, नीचे के कमरे ही नसीब थे, जिनकी दीवारें पीली थीं और जहाँ से कम रोशनी आती थी। उनसे अच्छी तो गौशाला की गाय-भैंसें थीं, जो ददा के साथ खुले मैदानों में चरने जाती थीं। रोज वे अपने नंगे बदन पर ताजी हवा के झोंके झेलती थीं। सूरज की किरणें उनके चप्पे-चप्पे को छूती थीं। लेकिन ये बहुएँ? मुझे उन पर दया आई। हर समय वे वजनदार लँहगा, पोलका और धोती पहने रहती थीं। उनकी बाहों को कन्धे तक उघड़ी शायद ही कभी देखा हो मैंने। कुल की इज्जत की रक्षा करने वाली बड़ी-बड़ी नथें उनकी मुलायम नाक में हर समय लटकती रहतीं। वे जोर से हंस नहीं सकती थीं, क्योंकि दाऊ के सुन लेने का डर था। दाऊ की परछाई देखते ही उनके चेहरों पर लम्बा घूँघट झूल

---

१. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ-९९

२. जुलूस, पृष्ठ-६६

जाता था। उनके पैरों में कड़े होते थे। चलते समय उनकी चाँदी खनकती थी। दाई ने मुझे बताया कि, चोरी करने पर जेहल वाले पैर में लोहे की सांकल डाल देते है। जेहल में सांकल पहनाना वाजिब था लेकिन ये वजनदार कड़ें? इन बहुओं ने क्या अपराध किया है?''[१] हिरना सांवरी 'छोटी बहु' की लाचारी समझती है-''उसके पति को पढ़ाई के लिए हर माह डेढ़ सौ रुपये भेजे जाते थे। इसी से छोटी का मान नहीं था। मंझली से कई गुना ज्यादा काम करती थी वह, लेकिन मंझली की तरह वह दाऊ का लाड़ नहीं पाती थी।''[२]

'बलचनमा' में नागार्जुन ने बड़े घरों की पारिवारिक विसंगति पर भी व्यंग्य किया है- ''बड़े घर के बच्चें तुनुक-मिजाज तो होते ही हैं। घमंड, फरेब और झूठ यह बड़ी आसानी से उनके अन्दर जड़ कर जाते हैं। मचलना, रूठना, बिदकना, रंज होना यह सब वे माँ-बाप से ही सीखते है। अच्छाई जो कुछ सीखते हैं, उनमें से ज्यादा हिस्सा नौकर-चाकर और गरीब पड़ोसियों की देन रहती है।''[3] उपन्यासकारों ने अंचल-विशेष में रहने वाले परिवारों का यथार्थ अंकन किया है। नागार्जुन ने अपने कई उपन्यासों में आँचलिक परिवेश में पल रहे परिवारों के विघटन का चित्र खींच रखा है। अधिकतर उन्होंने गरीब परिवार के अन्दर आर्थिक विपन्नता से ऊपजी विकृतिओं का रेखांकन व्यंग्यानुभूति के रुप में किया है। ''अपनी बहन को तूने अच्छी तरह नहीं देखा है अब तक! सिर के पीछे बहुत सारे बाल उसके नुचे हैं। पीठ पर कैलियों की मार के निशान हैं। ससुर क्या है, लगता है राच्छस ही होगा.....''

''राच्छस की नानी''- चुपचाप आकर पीछे से बड़ी बहन जिलेबिया ने उसका एक कान कसकर खींचा। गाल पर चपत लगाकर कहा, ''बुढ़िया रानी, घर आँगन की बातें यहाँ उड़ाई जाती है? खबरदार, जीभ निकाल लूँगी!....'' सिलेबिया सुनकर उठी और बहन को गालियाँ देने लगी -''रांडी! दगधी! निरासी! छुच्छी! सइयाँ डाही!.... उंगलियों में कोढ़ फूटेगी! हाथ गल-गल कर गिरेगा ऽऽऽ ......''

---

१. हिरना सांवरी, पृष्ठ-७३

२. वही, पृष्ठ-७४

३. बलचनमा, पृष्ठ-१०९

अब जिलेबिया ने छोटी बहन की पीठ पर गदागद पाँच-सात मुक्के जमा दिये- ''छिनाल कहीं की! ले, अब तो हुआ !''[१] 'वरुण के बेटे' की मधुरी ने संदूकची से एक अधपुरानी साड़ी निकाल कर माँ से पहनने को कहा तो वह बड़बड़ाकर कहती है -''छिनाल कहीं की! क्या बिगड़ता है। मैं ऐसी ही जाऊँगी। रानी जी की बाते तो सूने कोई आके लाई है अपने खसम की कमाई में से एक सूत भी?... गुस्सा तो मधुरी के भी जोनों का आया लेकिन सारी उबाल वह पी गई। ससुराल से भागकर ही तो आई थी, बस आ-भर गई थी। पहनावे में हरे फूलों की किनारियों वाली मात्र देह के साथ लायी थी। गले में हँसली, बाहों में बाजूबन्द, कलाइयों में मरोड़दार कंगन-पैरों में साटन.... अपने ये गहनें उसे प्रिय थे, इन्हें हमेशा पहने रहती। सो, ये भी साथ आ गए थे। कड़े नहीं ला सकी थी।.... अब इस वक्त रोगही और चिड़चिड़े मिजाज वाली माँ से भला वह क्या बतकुट्टन करें चुपचाप बेचारी शीशी धोती रही।''[२]

राजेन्द्र अवस्थी ने भी 'जंगल के फूल' में पारिवारिक क्लेश का सजीव एवम् व्यंग्यपूर्ण चित्र खींचा है - ''देख, अपने बेटे की करामात! मैं कहती हूँ- ''एक दिन यह तुम्हारी इज्जत लेकर रहेगा। गाँव वाले तुम्हें गायता मानकर छोड़ देंगे तब मानोगे।'

-'नहीं सत्तो, ऐसा नहीं हो सकता। सुलकसाए मेरा बेटा है; मेरा बेटा!'

-'यही तो मै कह रही हूँ। वह तुम्हारा बेटा है; मेरा नहीं।

-'सत्तो!'

-'क्यों बिगड़ते हो। मंगू ने खेल-खेल में जरिया में आग लगा दी थी तो तुमने सारी धरती को सिर पर उठा लिया था। अब क्यों चुप हो, जब सुलकसाए ने सारे गाँव की इज्जत में आग लगा दी है?'

- 'सत्तो!'

- 'सत्तो, सत्तो, सत्तो, सत्तो! सत्तो सच कहती है तो सिर फूटता है। कब तक गम खाकर रहोगे! आजकल में वहाँ के मुखिया आएंगे तब

---

१. वरूण के बेटे, पृष्ठ-७६

२. वही, पृष्ठ-८१

पता लगेगा।'

– 'क्या पता लगेगा ?'

– 'अपने नामी बेटे का नाम हवा में उड़ता सुनोगे, तब मेरी छाती ठण्डी होगी।''[१]

'चिट्ठीरसैन' में शैलेश मटियानी ने पति-पत्नी के कटु सम्बन्धों पर तीखी छींटाकशी की है। पंचायत में बोलने से इनकार करने पर रूदर सिंग ने एक झापड़ कस दिया और कहने लगा –'' साली, पैर की जूती सिर की टोपी की तरह उछलती-कूदती है ? दूँगा मेलों में चार लात, तो 'ओ बबो, करती हुकम अदा करेगी। बदजात औरत कहीं की।.... अरे मै तो यों ही तेरा अन्त लेने की कोशिश कर रहा था... मगर, लगता है उस पलटनिया से तेरी सटबट जरुर है।....''

''जो खुद सटबटिया-सतजुठिआ होता है, उसे सब अपने ही जैसे नजर आते हैं।'' उदुली गुस्से से बोली।

''हट तेरी करमजात के खानदान को हैजा ले जाए, धो-पोंछ के साली, अपने खसम को सटबटुआ-जुठुवा कहती है?'' कहते हुए रूदर सिंह ने उदुली को कसकर एक लात मारी- ''खामोश ससुरी, जरा भी जबान आगे हिलना नहीं।.... और बता, ससुरी, फोले का गोला मिसरी क्यों खा गई? तेरे बाप धरम सिंह ने पारसल भेज रखा था क्या ऐसी चटुवा जिबड़ी है, तो जा उस नथुवा पलटनिया के ही घर-बार, वहीं पचकाना खूब गू-जैसे बिलैती-बिस्कुट!.... अरे, पचकाना क्या, क्या ससुरी तू पचकाती ही होगी? बिना किसी यारी के कोई औरत-अपने धरम के स्वामी का मुंह मारके-पराए मरद की पैरवी कर सकती है?''

इसके बाद, दो बार और चुनी हुई गालियाँ देने के बाद, कि 'ठैर जा, रंडी-पातर! लौटने दे मुझको पंचैत से घर। तेरा जो काला मुख दही भौसा चुपोड़ के मैने नहीं किया, तो मैं भी अपने बाप का बेटा नहीं। ठैर, ससुरी, बिगैर टिकट, बिगैर बस्तुर एकदम चिलमनंगी बनाके तुझे यहाँ से रवाना करने वाला हूँ।''[२]

---

१. जंगल के फूल, पृष्ठ-५५

२. चिट्ठीरसैन, पृष्ठ-१९४

उपन्यासकारों ने स्वतंत्रता-पूर्व एवं स्वातंत्र्योत्तर भारत के गरीब परिवारों की आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति का गहरा अध्ययन किया है जो उनके उपन्यासों में प्रत्यक्ष रूप से द्रष्टिगोचर होता है। गरीबी का प्रमुख कारण 'आर्थिक संकट' है। आर्थिक स्थिति दयनीय होने के कारण ही उनकी स्थिति दिन-ब-दिन बदतर होती जा रही है। यदि उनकी समस्याओं को कोई अच्छी तरह समझ पाया है तो उपन्यासकार ही, जो किसी-न-किसी तरह से गरीब जनता के परिवेश से सम्बद्ध रहे हैं। उनकी भावनाओं से जुड़े हुए हैं। आंचलिक उपन्यासों में गरीबी का कारण बनने वाली परिस्थितियों एवं व्यवस्थाओं पर लेखकों ने करारा व्यंग्य किया है। 'मैला आंचल' में अनाज के ऊँचे दर से गाँव के तीन ही व्यक्तियों ने फ़ायदा उठाया है - ''तहसीलदार साहब ने, सिंघ जी ने और खेलावन सिंह ने। छोटे-छोटे किसानों की जमीनें कौड़ी के मोल बिक रही हैं। मजदूरों को सवा रुपये रोज मजदूरी मिलती है, लेकिन एक आदमी का पेट नहीं भरता। पाँच साल पहले सिर्फ पाँच आने रोज मजदूरी मिलती थी और उसी में घर-भर के लोग खाते थे।

तहसीलदार साहब ने धान तैयार होते ही, न जाने कहाँ छिपा दिया है। दरवाजे पर दर्जनों बखार है, लेकिन इस साल सब खाली। चमगादड़ों के अड्डे हैं।.... सरकार शायद धान-जप्ती का कानून बना रही है। कपड़े के बिना सारे गाँव के लोग अर्धनग्न हैं। मर्दो ने पैंट पहनना शुरु कर दिया है और औरतें आँगन में काम करते समय एक कपड़ा कमर में लपेटकर काम चला लेती हैं; बारह वर्ष तक के बच्चे नंगे ही रहते हैं।....''[१] एक ओर यह स्थिति है और दूसरी ओर ''शिवनाथ चौधरी सभा में खादी के अर्थ शास्त्र पर प्रकाश डाल रहे हैं। आँकड़े देकर साबित कर रहे हैं कि यदि घर का एक-एक व्यक्ति चरखा चलाने लगे तो वो गाँव से गरीबी दूर हो जाएगी; अन्न वस्त्र की कमी नहीं रहेगी। चरखा सेंटर खुल गया है। अब गाँव में गरीबी नहीं रहेगी। पटना से दो मास्टर आए हैं-चरखा मास्टर और करघा मास्टर। एक मास्टरनी भी आई है - औरतों को चरखा सिखाने के लिए। औरतों से कहती है, ''चरखा हमार भतार-पूत, चरखा

---

१. मैला आंचल, पृष्ठ-११७

हमार नाती; चरखा के बदौलत मोरा दुआर झूले हाँथी।" चरखा की बदौलत हाँथी?.... गाँधीजी की जै!

सैनिक जी और चिनगारी जी की तरह गरम भाखन शिवनाथ चौधरी जी नहीं देते हैं, लेकिन बात पक्की कहते है। एकदम हिसाब से सब बात कहते हैं। खूब ज्ञान की बात कहते हैं। कल का पिसा हुआ आटा नहीं खाते है। चीनी नहीं, गुड़ खाते हैं। त्यागी आदमी है। चौधरी जी के साथ में दरभंगा जिले में तमोड़िया टीशन से रमलगीना बाबू आए है। सुनते है, पानी से ही बीमारी का इलाज करते है। आग में पकाई हुई चीज नहीं खाते है। साग की हरी पत्तियाँ चबाकर खाते हैं। कहते हैं, इसमें बहुत ताकत है। वह भी असल त्यागी हैं। देह मे सिर्फ हड्डियां बाकी बच गई है, मांश का लेश भी नहीं। दिन-भर में करीब पंद्रह बार हांथ में लोटा लेकर मैदान की ओर जाते हैं।"[१] गाँव की राजनीतिक पार्टियों के मध्य भी गरीब जनता ही पीसी जाती है; रेणु जी ने इस पर भी व्यंग्य करते हुए लिखा है- "दो भैंस की लड़ाई में दूब के सिर आफत। कांग्रेस और सुशलिंग अपने में लड़ रहा है। दोनों अपना-अपना मेम्बर बनना चाहता है। चक्की के दो पाट में गरीब लोग ही पीसे जाएँगें।"[२] "हौलदार" की 'भागुली' अपनी गरीबी का दुखड़ा सुनाती हुई 'गुसैड़ी' से कहती है- "द, गुसैड़ी' हम गरीबों का घर क्या गुलजार होता है? खसम हमारे दिन भर ओढ़गिरी-बढ़ईगिरी करेंगे, या अल्मोड़ा की बाजार जाकर, लकड़ियों की गढौल बेचेगें, तब जाके घर में जरा नूण-तेल-तमाखू की सूरत दिखाई देती है। अपनी खेती हम फुटकपालियों के पास ठहरी नहीं। पराए खेतों में अपने हाड़ों का रस निचोड़ा, तब कहीं जाके हमको चार डाडू जौल मादिरे का नसीब होता है, गुसैणी!" "....बाल-बच्चों के लिए फटा-पुराना बस्तुर चाहिए ही। हरुवा को अल्मोड़ा के जी-याइ-सी कौलिज में भर्ती-जैसा कर रखा है, उसका खर्चा ठहरा ही। गास-टुकड़े सुबह-शाम के लगे ही ठहरे। चारो तरफ से हरुवा के बौज्यू की कमर में किसम-किसम के खर्चों की धचकों का ही जोर ठहरा।.... ऐसे में

१. मैला आंचल, पृष्ठ-११७
२. वही, पृष्ठ-१२१

'चिन्ता चिता जलावे ऐसी-हाड़-मांस सब राख भयो है, कोयला रहा न एक-मन-मूरख यह माया बतलावे कैसी' वाली ठहरी, गुसैणी! मगर, मन से दुखों के बोल फूटने लगे और आँखों में अंगारे-जैसे उपजने लगे, तो गीत-जोड़ों के रस के जरिए से, अपने दुखों की आँच जरा कम कर लेनी, बिलमा लेनी ठहरी, कि 'चोटें लागी चित्त में, आँसू निकले आँख-अरे, मूरख मन दुख बिलमा ले, उड़े कबूतर-पाँख!....''[१]

आंचलिक उपन्यासों के कथानक के ताने-बाने में जो अंचल है, उनका ग्रामीण जन-समुदाय जातिवाद की दुर्भावना से संत्रस्त है। ठाकुर-बामन, कायस्थ, चमार, पासी, ततमा, यादव आदि जातियों में अंचल विभाजित है जो छोटे-छोटे समूँह में निवास करती है। ऊँच-नीच का भेद-भाव, आपसी वैमनस्य का कहर ग्राम्यांचलों में इस कदर ढा गया कि उससे बनी हुई खाई को पाटना असम्भव -सा लगता है। उच्च वर्गों के लोग जानबूझ कर नैतिकता की सीमा का उल्लंघन करके अपने मनोरंजन और ऐश के विभिन्न तरीके निकालते रहें हैं। आंचलिक उपन्यासों में निम्न वर्ग का व्यंग्यात्मक चित्रण प्रायः न के समकक्ष हुआ है। निम्न वर्ग पर व्यंग्य करने के स्थान पर उनकी दयनीय स्थिति के चित्रण की ब्याज से उच्च वर्ग की क्रूरता एवम् अत्याचार पर गहरी चोट की गई है। 'मैला आंचल' में रेणुजी ने निम्न वर्गों पर उच्च वर्ग द्वारा शोषण की इस प्रवृत्ति पर व्यंग्य किया है -''जाति बहुत बड़ी चीज है। जाति-पाति नहीं मानने वालों की जाति होती है। सिर्फ हिन्दू कहने से ही पिंड नहीं छूट सकता। ब्राह्मण है?.. कौन ब्राह्मण! गोत्र क्या है? मूल कौन है?.... शहर में कोई किसी से जात नहीं पूछता। शहर के लोगों की जाति का क्या ठिकाना। लेकिन गाँव में तो बिना जाति आपका पानी नहीं चल सकता।''[२]

'रांगेय राघव' के 'काका' का हलवाई व्यंग्य करता है- ''सुन रहे हो, काका! जमाना पलट गया है। पहले गरीब-अमीर की बात इतनी नहीं थी, लोग दर्जा और जात को देखते थे। वह मरजाद अब धूलि में मिल गई। अब तो कोरी हो, चमार हो, एक कुल्हड़ में पीते हैं। छोरा है कहार का

१. हौलदार, पृष्ठ-३११

२. मैला आंचल, पृष्ठ-४९

नखरे है कितने देखे। पहले कोई छूने देता इसे?''....काका ने कहा-.... पुरानी दुनिया में भी अमीरी-गरीबी थी, पर हमने आदमी के लिए आदमी की आँख में आँसू आते देखा था। अब तो जैसे कन्हैया ने कनपटियों पर आग धर दी कि एक नहीं बाहर निकलता, मरजाद उठी जा रही है, पर मरज़ाद जाए, हम मरजाद नहीं छोड़ेंगे। क्यों''[१]

अनाथ बच्चे को गोद लेने वाले को भी समाज में कलंक का सेहरा पहनना पड़ता है। ऐसे ही 'रांगेय राघव' के 'काका' भी है। जिन्होंने एक बच्चे को गोद लिया था। लोग तरह-तरह की बातें करते हैं। 'परम सुख' भी ऐसे लोगों में एक है जो इसे अपनी जात-बिरादरी का अपमान मानता है। वह व्यंग्य करते हुए 'काका' से कहता है -''तुम तो जाने किस जात-कुजात को ले आए। खैर, ले आए सो तो ठीक, पर अब अपने सिक्के को यों बामन (ब्राह्मण) कहकर जिजमानों का धर्म बिगाड़ने को तो मत चलाओ। आजकल काछी कलवाहे हुए, नाऊ ठाकुर बन गए, भाट और बढ़ई बन गए शर्मा जी, सो तो है, पर तुम तो पुराने आदमी हो। तुम्हारी आँख में तो डोरा है, काका ?''[२]

जातीय वैमनष्यता की अनुभूति का चरम रूप 'काका' में दिखायी देता है, जिसे लेखक ने 'रामधुन' के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। वह ग्लानि और क्षोभ से भरा हुआ है। वह स्वयं को इसके लिए जिम्मेदार मानता है। वह 'काका' से चिल्ला-चिल्ला कर कहता है -''तुमने जीवन भर भीख माँगी है। तुम्हारा परमसुख भिखारी है, तुम लोगों ने कुत्तों की तरह जिन्दगी बिताई है। और मैं, कुत्तों का कुत्ता हूँ, क्योंकि मैं उनकी जूठन पर पला हूँ। मैं राह का कीड़ा था, तुमने मुझे इतना बड़ा बनाया। क्यों बनाया मुझे? क्यों नहीं मर जाने दिया मुझे? तुमने मुझे इतना प्यार क्यों दिया?''

काकाने कुछ नहीं कहा। रामधुन ने दोनों हाथों से अपने बाल नोंच लिये और कहा -''मर क्यों नहीं जाता अभागे? आज तू जी क्यों रहा है? तेरा तो दुनिया में कोई नहीं। किसी पापिन का अनाथ लड़का,

---

१. काका, पृष्ठ-३४

२. वही, पृष्ठ-६८

आज तक तू भीख पर पला है, पर घमंड तुझे इतना है? ठीक ही तो कहा उस पोस्ट मास्टर की लड़की ने! तुम भिखारी हो।"

"हाँ, मै भिखारी हूँ। मै भिखारी हूँ।" उसने अपने सिर को दोनों हाथों से पीट लिया। बिंदिया देखती रही। उसकी आँखों में आँसू आ गए। वह स्तब्ध खड़ी रही। उस मर्म वेदना ने उसे हिला दिया था..... काका का मुँह खुला का खुला रह गया। रामधुन ने कहा -"तुमने इतने दिन इस कुत्ते को टुकड़े डालकर पाला है, काका, इसलिए तुमसे कभी उऋण नहीं हो सकूँगा" वह झुका और उसके मुख पर अहंकार के स्थान पर असह्य यंत्रणा-सी दिखाई दी.....

ऐसा लगता था कि उसके नेत्रों में गम्भीर वेदना का आर्त हाहाकार हो रहा था। उसकी आँखों में सम्मान का भाव छा गया।"[1]

'परती: परिकथा' के मुखिया जी 'झाजी' को खुशखबरी सुनाते है -"झाजी! एक खुशखबरी और सुन लीजिए! जित्तन का भोज भण्डुल हो गया। ब्राह्मणों ने भोज खाने से इनकार कर दिया..... अब कौन खाएगा उसकी हवेली में? हम लोग नट्ट नहीं है। जित्तन ने कहा-न नकद रुपया देंगे और न भोज देंगे।"[2]

रेणु जी ने जातिगत विसंगतियों की ओर सभी का ध्यान आकृष्ट कराने का प्रयत्न किया है। 'मैला आंचल' के बूढ़े ज्योतिषि जी आज भी कहते हैं -"यह राजपूतों के चुप रहने का फल है कि, आज चारो ओर, हर जाति के लोग गले में जनेऊ लटकाये फिर रहे हैं।"[3] "राजपूतों ने यदि इस पंचायत में ब्राह्मणों का पक्ष नहीं लिया तो ब्राह्मण लोग ग्वालों को राजपूत मान लेंगे।"[4] 'लोक-परलोक' में 'उदयशंकर भट्ट' ने जमींदारों की अच्छी-खासी बखिया उधेड़ी है। ठाकुर-ब्राह्मणों की जमींदारी चली जाने के पश्चात गाँव में निम्न तबके के लोग, विशेषकर अहीर, किसान और लोधे सम्पन्न हो रहे थे- "सारे गाँव में आँधी की तरह यह बात फैल गई कि, बाहर के आदमी ने महेन्द्र सिंह को उसके घर पर पीट दिया।

---

१. काका, पृष्ठ-७२
२. परती: परिकथा, पृष्ठ-२८३
३. मैला आंचल, पृष्ठ-१५
४. वही, पृष्ठ-१०९

किसानों ने सुना तो वे खुश हुए। ठाकुरों में रोष भरा। चमार-लोधों ने खुशी मनाई। उसके बाद बहुत दिनों तक उस दालान में बैठे महेन्द्र सिंह को किसी ने न देखा।''[1]

उदयशंकर भट्ट ने पंडित गंगाधर की चमार-भंगिनों के प्रति सहानुभूति पर अन्य उच्चवर्गीय युवकों द्वारा प्रतिक्रिया पर व्यंग्य किया है -''एक बोला, ''पंडित सठियाइ गए हैं।'' दूसरे ने तमाखू की पीक थूककर कहा, ''अपनौई दाम खोटौ है तो परखिबेबारे कौ का दोसु ऐ ? देखौ न, ब्राह्मण हैकेंऊ इनन्ने चमार-भंगिन कौ पच्छु लयौ ऐ। पूछौ इन पंडित सूँ, तुम का भंगिन कौ खातौ, जो ऐसी बातें कैत हौ?

एक ने मज़ाक में कह दिया, ''तुम्हें का मालुम, खातई हुंगे। इनके घर की भंगिन वा चोखा की मलूक औरत है। लड़ि गई हुँगी आँखें, को जाने?'' कुछ लोगों ने पक्ष लेकर गंगाधर पंडित की निष्पक्षता सिद्ध की। बोले, ''भजनानन्दी आदमी हैं, काए कू बदनाम करतौ?

''अंगरेजी पढ़ौ भयौ है।''

''जाई मारें भंगिन कौ पच्छ लेतुए पंडित।''

''सच्ची पूछौ तौ धरम-करम के नासकर्ता जि अंगरेजी बारे हैं। न जे भंगी देखतएं न चमार। होटल मेऊ तो भंगी-चमार खानों-परसतें।'' बात अंग्रेजों तक जा पहुँची। थोड़ी देर में हा-हा, हू-हू होने लगी। धार में पत्थर गिरा, डूब गया। पानी फिर एकाकार होकर बहने लगा।''[2]

यही नहीं, आंचलिक उपन्यासों में उच्च-वर्गो की निम्न वर्गों के प्रति मानसिकता और नीयत पर भी बहुतो बार छींटाकशी की है। 'लोक-परलोक' का ही एक दृष्य प्रस्तुत है- ''ब्राह्मण, ठाकुरों और वैश्यों के लड़के बाहरसे पढ़कर आते और बातें करते तो लोग उन्हें धर्मभ्रष्ट, पतित समझते। लेकिन नौकरियों के लिए उन्हें पढ़ाना भीतर-ही-भीतर आवश्यक भी समझते। मन-ही-मन अकेले में पूछने पर मानते भी, पर संस्कारों के कारण बीच बाजार में सबके सामने कहने पर पुरानी बातें दुहराते। लोग अब भी उसी ढर्रे पर चल रहे थे। अब भी हर शाम दुकानों पर भाँग

---

१. लोक-परलोक, पृष्ठ-१०९

२. वही, पृष्ठ-११२

छनती। ब्राह्मण, यात्रियों की फिक्र में रहते। भोजन दान-दक्षिणा के लिए आपस में जूझते, एक-दूसरे की निन्दा करते। वे शिला के उस पत्थर की तरह थे, जिसमें भीतर-ही-भीतर असंख्य दरारें हो और बाहर से जुड़ा दिखाई देता हो।

गंगा स्नान के लिए यात्रियों का आते रहना, उन्हें आगे कुछ भी सोचने नहीं देता था। ऐसा नहीं है कि वे सम्पन्न हों, उनके घर अच्छे हों, रहन-सहन अच्छा हो, खाना-पीना, कपड़ा सुविधा से मिलता हो। वे गरीब थे, फिर भी उन्हें अपने को बदलने की जरुरत महसूस नहीं होती थी।''[1]

रामदरश मिश्र ने 'जल टूटता हुआ' में ब्राह्मणों की हरिजनों पर दादागिरी-सी प्रवृत्ति पर गहरा चोट किया है- ''ये बामन चाहे बाहर भीख ही क्यों न माँगते हों, मिलों में दरबानी, चपरासीगिरी और कुलीगिरी ही क्यों न करते हों, रिक्शा ही क्यों न हाँकते हों, चोरी-डकैती ही क्यों न करते हों, लेकिन गाँव में सभी हरिजनों के मालिक है।''[2] रामदरश मिश्र का ही एक और उत्कृष्ट व्यंग्य प्रस्तुत है -''सदियों का संस्कार साथ नहीं छोड़ता, लोग कहाँ-से-कहाँ चले गये, सबकुछ टूट रहा है, विदीर्ण हो रहा है, लेकिन अभी बभनई और ठकुरई लिए बैठे हुए हैं। शहरों में लोग मालिकों की गाली सुनेंगे और गाँव में बाभन-ठाकुर बने हुए बैठे हैं- शहरों में ही क्यों, यहीं प्राइमरी स्कूल में हरीजन मास्टर आया है, वह डंडों से बामनों-ठाकुरों के बच्चों को मारता ही है..... लेकिन लोग चाहते है कि, चमार-चमार ही रहे, नाई-नाई ही रहे, धोबी-धोबी रहे, ये भले ही बामन और ठाकुर न रह गए हों! ये लोग हरिजनों के बच्चों की पढ़ाई का मजाक उड़ाते है, मानो इनकी हलवाही करने के लिए वे हमेशा चमार बने रहें.....मैंने तो कई बार यह आवाज उठायी कि हल उठाओ और अपना काम खुद करो लेकिन अभी इनका ब्राह्मणत्व इनके चन्दन की तरह इनसे लिपटा है। सारे दुष्कर्म करते है ये लोग, लेकिन हल जोतने में इनका सारा धर्म नर्क में पड़ता है। जब गाँव में एक भी हरिजन नहीं रहेगा तब

---

१. लोक-परलोक, पृष्ठ-११३

२. जल टूटता हुआ, पृष्ठ-२२२

झख मारकर ये लोग अपना-अपना हल खुद उठाएँगे, लेकिन पता नहीं वह दिन कब आएगा? अभी तो कोई आवाज नहीं सुनायी पड़ रही है।....[१]

'पानी के प्राचीर' का नीरू भी बाबू साहब की किसानों पर क्रूरता एवं अत्याचार पर व्यंग्य की दृष्टि फेंकता है -"बाबू साहब गुलाब के पौदों में व्यस्त थे, पुराने गुलाब के पौदों में लाल-लाल गुलाब खिले हुए थे- गुलाब के फूलों की लाली, हवेली के पीछे मुसकरा रही थी, रंग रही थी बगीचे के आंचल को..... और..... और हवेली के सामने किसानों की पीठ पर रक्त की चिपचिपाहट धूप में चिलचिला रही थी।"[२]

उच्च वर्गो के द्वारा शोषण एवं उनके बेहयापूर्ण घटिया चरित्र को शिवप्रसाद सिंह ने व्यंग्यात्मक चित्र के रूप में प्रस्तुत किया है -"एक दिन सहसा अन्तिम छोर पर पहुँचते-पहुँचते धैर्य का स्प्रिंग टूट गया। ठकुराने से पचीसों लाठियाँ निकल पड़ीं। तालाब, सिवान, रास्ते, सभी तो ठाकुर के ही थे। इनका उपयोग करने का चमारों को क्या हक भला? चमार और चमारिनों पर बेहद मार पड़ी। तालाब में नहाती औरतों को झोंटे पकड़ कर खींचा गया। खेत में घास-पात, साग-सालन लाती चमार लड़कियों को दौड़ा कर बेइज्जत किया गया। लाठ-डाँड़ पर चलते चमारों के बदन लहु-लुहान हो गए। देवकिसुन का सर फट गया। सबकी घृणा का वह इकलौता पात्र बना।"[३]

लेखक ने चौधरियों की चौधराहट को आड़े हाथों लिया है- "क्या इसी सबके लिए बारहो गाँवों के चौधुरियों की बटोर हुई थी? इसी के लिए गरीबों से बेहरी वसूल कर उसने इन लोगों की खातिर तवज्जह की थी? बटोर में तो बड़ी हैंकड़ी दिखाते रहे ये लोग, यहाँ आकर कैसी भीगी बिल्ली बन गए। माफी माँगने के पहले एक बार ठकुराने के अत्याचारों का बयान तो कर देते। हमें किस तरह बेजुबान जानवरों की तरह पीटा गया, किस तरह बहु-बेटियों की बेइज्जती हुई, इसका हिसाब-किताब करने तो आए थे न ये चौधुरी लोग? मगर क्या हो। सभी एक थैली के

---

१. जल टूटता हुआ, पृष्ठ-२२५

२. पानी के प्राचीर, पृष्ठ-१६१

३. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ-४२१

चट्टे-बट्टे हैं।[१]

लेखक ने गाँव की दयनीय स्थिति का यर्थाथ चित्र खींचते हुए व्यवस्था पर व्यंग्य पूर्ण आक्रोश व्यक्त किया है -"अब तो इस गाँव में ऐसी वारदातें होती हैं कि, कोई थाना-पुलिस में रपट भी नहीं करता है। ऐसा लीचड़ निहंग गाँव शायद ही कहीं हो। एक भी आदमी नहीं जो हाइकोर्ट ठेकाने की बात करें। बस तुच्ची वारदातें रह गई हैं। चोरी-चमारी, आशनाई। खेत कट जाते हैं रातों-रात, मवेशी खूँटे पर से या सीवान में से हाँक दिये जाते है दिन-दहाड़े, पर कोई रपट नहीं। कहीं पंचायत नहीं। सबको मालुम है, कि किसने क्या किया। चोरी का जवाब चोरी, चमारी का जवाब चमारी। अब वे शानवाले मरद कहाँ रहे कि जोरू के तन की साड़ी बेचकर हाईकोर्ट तक लड़ते रहें।"[२]

'अलग-अलग वैतरणी' में शिवप्रसाद सिंह ने बाबू जैपाल सिंह के अहंकार एवं स्वाभिमान की खिल्ली उड़ाई है -"ऐसी दुनिया में, जहाँ दूसरी हवा चलने लगी हो, जहाँ दूसरी बिरादरी बन गई हो, जहाँ दूसरे रिश्ते जन्म ले रहें हो, बाबू जैपाल सिंह ने कदम न रखने की मन-ही-मन प्रतिज्ञा कर ली थी। उन्होंने अपनी जिन्दगी के ज्यादे दिन लोगों के झुके माथे और झुकी आँखों में देख कर बिताये थे। उन्हें नीच जात वालों को तने-सीधे देखने का ताव न था। इसलिए उन्होंने अपने निजी परजा-पौनियों, सिरवाह, मुन्शी और खिद्मतगारों को यह बात अच्छी तरह समझा दी थी कि वे आखिरी साँस तक कभी करैता की माटी पर पाँव न रखेंगे।"[3]

निम्न पंक्तियों में शिवप्रसाद सिंह की व्यंग्य-व्यंजना अद्भुत एवम् अपूर्व बन पड़ी है -"यहाँ तो भूल-भुलैया में रास्ता ढूँढ़ कर खुद मेमने ही बाघ की माँद में आया करते थे। क्या करते बिचारे, तब करैता गाँव के सभी रास्ते छावनी को ही जाया करते थे।..... जमींदारी छूट गई फिर भी किसी को विश्वास नहीं होता था कि, माँसाहारी बाघ शाकाहारी हो गया।"[४] इसीलिये तो अब जगेसर भी यहीं कहता-फिरता है -"अब

---

१. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ-४२४

२. वही, पृष्ठ-२४५

३. वही, पृष्ठ-२४

४. वही, पृष्ठ-३४

ऊ जमाना गया कि, ठकुराने के एक अदने छोकरे को देखकर बड़े-बूढ़े चारपाई छोड़कर उठ जाते थे। अपना राज है। हम किसी से कम हैं क्या?''[१]

शिवप्रसाद सिंह ने ग्रामीण जातियों को बसाये जाने की पुरातन व्यवस्था की भी हंसी उड़ाई है- ''तलैया के दक्खिनी कगार पर करैता की चमरौटी आबाद है। गाँव के बड़े लोगों से 'नान्ह लोगों' को अलग करती हुई यह तलैया मुझे इसी कारण कभी स्वाभाविक नहीं लगती। शूद्र, चांडाल, चिड़ीमार, कसाई, खर्बट के बाहर रहेंगे- यह व्यवस्था जिस-किसी ने जब भी दी हो, उस समय तलैया नहीं रही होगी। मुझे यह इत्मीनान नहीं होता कि, इस व्यवस्था के पहले यहाँ तलैया थी और इसके उत्तर तरफ सवर्ण और दक्षिण तरफ शूद्र बसा दिये गये। यह खाईंनुमा तलैया जरुर बाद में बनी क्योंकि गाँव वालों को लगातार डर रहा होगा कि कहीं चमरौटी की आबादी समतल सीमा को चीरकर किसी दिन उनसे सट न जाए। इसलिए हमेशा माटी निकाल-निकाल कर इस तलैया को गहरा किया जाता रहा होगा और भेदकारी पूर्वी भीठे को ऊँचा। पूर्वी भीठा ऊँचे छवरे की तरह गाँव को चमरौटी से जोड़ता है। दोनों बस्तियों को दूर-दूर रहना जरूरी है क्योंकि ब्यवस्था है। इसलिए तलैया है। किन्तु दोनों के मिले बिना एक दूसरे का काम न चलेगा। इसलिए ऊँचा भीठा है। पोढ़ रास्ता है। यह दोनों को जोड़ता है।''[२]

'बलचनमा' में नागार्जुन ने जमींदारों के घर की असलियत का खुलासा करते हुए लिखा है -''मुझे यहीं फिक्र थी कि जमींदारों का गाँव है। लुच्चे होते हैं ये लोग। असूल तहसील का काम गुमस्ता-बराहिल के हवाले, घर-गिरस्थी की देख-रेख छुटभाईयों के हवाले, सेवा-टहल का काम बहिया खवास के हवाले बाकी बचे बेटा-नाती, भाई-भतीजा, सार-सरबेटा। सो बैठे-बैठे ताश पीटेंगे, शतरंज खेलेंगे, शहर जाकर सिनेमा देख आएँगे, बेकार मन शैतान का घर। खान-पान और आराम की कमी नहीं, काम करेंगे नहीं। किसी की लड़की सयानी हुई नहीं कि, निशाना

१. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ-२४४

२. वही, पृष्ठ-१५७

साधने लग जाते है। यह नहीं कि, बहन-बेटी सबकी बराबर होती है। अपनी इज्जत आबरू संभालोगे तो दूसरे का भी भला होगा। मगर भैया, जिनके पास दौलत होती है, वह निपट अंधे होते हैं, अपना-पराया कुछ नहीं सूझता।

और हम तो गरीब ठहरे। हमारे पास और क्या चीज होती है। कमाने-खटने के ये दो हाथ, माँ-बहन, बेटी की इज्जत-आबरू, यही न हम लोगों की दौलत है? तुम्ही बताओ, हम उनकी भी हिफाजत अगर न कर पावें तो यह जिनगानी किस काम की।''[१] जमींदारों के चरित्र का हनन इस इस तरह बढ़ गया होता है कि वह लाख छुपाने की कोशिश करें तो भी अनायास ही लोगों का शक विश्वास में बदलते देर नहीं लगता। लेखक उनकी नीयत पर व्यंग्याक्षेप करता है -''हमारा गाँव ज़मींदारों का था। बड़े घरों के क्या जवान, क्या बूढ़े, बहुतेरों की निगाह पाप में डूबी रहती थी। गौना होकर कोई नई-नबेली किसी के घर आती तो इन लुच्चों की आँख उसकी घूँघट के इर्द-गिर्द मंडराया करती। जब तक आधी-पौनी निगाह से ये उसे देख न लेते तब तक नींद न आती बदमासों को। कई बार ऐसा होता है कि, जिसे देखने को बाप बेताब हो उठता उसी पर बेटा भी फिदा! उन दिनों मालिक लोगों का ही राज था। उनके खिलाफ तुम अपनी कानी उंगली तक न हिला सकते थे। किसी की इज्जत-आबरू को बेदाग रहने देना उन्हें बर्दाश्त नहीं था।.....

.....गरीबी नरक है भैया, नरक। चावल के चार दाने छींटकर बहेलिया जैसे चिड़ियों को फँसाता है उसी तरह ये दौलत वाले गरजमंद औरतों को फँसा मारते है! उनके पास धन भी होता है और अकल भी होती है। अपरंपार है उनकी लीला। बड़े खानदान का अवारा से अवारा आदमी पंडितो और पुरोहितों से भलमनसाहत का फतवा पा जाता है।''[२] नागार्जुन का यह व्यंग्य निश्चय ही जमींदारों, पूँजीपतियों आदि के झूठे दिखावों की बखिया उधेड़ देता है।

'मैला आंचल' में 'रेणु' जी ने गरीबों की और बदतर होती जा रही

---

१. बलचनमा, पृष्ठ-५८

२. वही, पृष्ठ-५९

स्थिति का जिम्मेदार बड़े किसानों अथवा जमींदारो को ठहराया है। ''सैकड़ों बीघे जमीन वाले किसानों के पास पैसे हैं, पैसे से गरीबों को खरीदकर गरीबों के गले पर गरीबों के जरिए ही छुरी चलाते हैं।--- होशियार! जिन लोगों ने नई बंदोबस्ती ली है, वे गरीबों की रोटी मारने वाले है.....!''[१] कालीचरन किसानों के बीच भाषण देते हुए पूंजीपति वर्ग और जमींदारों पर तीखा व्यंग्य करता है...'' ये पूँजीपति और जमींदार, खटमलों और मच्छरों की तरह सोखश है।''[२]

गरीबों की जमीन-जायदाद हड़प-हड़प कर न जाने कितने गुंडे और बदमाश और भ्रष्ट अधिकारी पूँजीपति बन बैठतें हैं ऐसे ही लोगों में 'बलचनमा' के फूलबाबू के बाप भी थे.... ''फूलबाबू के बाप इन्हीं गरीबों की जमीन-जजाद हड़प-हड़प कर औकात वाले बने थे। इन लोगों का यही पेशा था। फूलबाबू के दादा भी लगानी-भिड़ानी करते थे। परदादा थे बनैली राज में तहसीलदार। चार-चार, छै-छै, आठ-आठ, दस-दस रुपैया देकर वह ऐसी नाथ न नाथते थे लोगों को कि मरने पर भी बेचारों को छुटकारा नहीं। छोटी जात वाले जनबनिहारों के पास होता ही क्या? बहुत हुआ तो दो, चार धुर की डीह, दो-एक मड़ैया, एकाध बकरी-बाछी। मगर भैया इन कसाइयों के चलते बेचारों के पास यह सब भी नहीं रह पाता। नीलाम करा लेते हैं। कुर्क हो जाती है। अदालत उनकी, हाकिम उनका, थाना-दरोगा, पुलिस उनकी। गरीबों के लिए सिवाय लात-जूता के और है ही क्या? अब तो थोड़ा कुछ जमाना बदला भी है, बाकी दस-पंद्रह साल पहले देहातों में घुप अंधेरा था। जिसकी लाठी उसकी भैस, यही चलता था। आज कल तो दरोगा-पुलिस लोगों से दबने लगे हैं। बड़ी जात वालों की माया तब भी अपार थी और अब भी। बात-बात में अपनी गोटी वही लाल करते हैं।''..[३]

'कब तक पुकारूँ' का सुखराम अब उच्च वर्ग के द्वारा किए जा रहे अत्याचारों एवं उनकी राक्षसी मनोवृत्ति से तंग आकर स्वयं को कोसता है- 'हमारे पास जमीन नहीं, कुछ नहीं।

---

१. मैला आंचल, पृष्ठ-१६९

२. वही, पृष्ठ-१७६

३. बलचनमा, पृष्ठ-४६

'बेटा, तुम्हें जनम से ही भगवान ने नीच बनाया है।'

'काहे से नीच है? बुरा काम करते है कुछ?'

'भंगी काहे से नीच है?'

'मैला उठाते हैं।'

'तुम मुर्दे की खाल नहीं खीचते?'

'हम खींचते है, ठीक है। जो हम न खींचें तो बामन, ठाकुर हमारे चमड़े के चरस से पानी कैसे पिएँ, दुनिया जूते कैसे पहने?''[1]

रांगेय राघव ने बूढ़ा गिल्लन के द्वारा जमींदारों के धन इकट्ठा करने के विभिन्न तरीकों पर तीक्ष्ण कटाक्ष किया है-''बड़े आदमी सदा से छोटों को पिटवाते रहे हैं। लाला! तेरा बाबा तो मसहूर था। जब बड़े जमींदार के पास जाता था तो अंटी में रुपये लगाकर ले जाता था। भेज (लगान) मांगने पर कभी आपसे नहीं देता था। कहता था, ''जूते लगवा दो, ले लो, नहीं तो मेरी फसल आगे खड़ी न होगी। जमींदार के पाँव पकड़ के घिघियाता था, मेरा सगुन मत बिगाड़ो महाराज! जमींदार तब जूता उसके सिर से छुआ देते, और वह हंसी-खुशी रुपये गिन देता। इसी से तब धरती सोना उगलती थी। राजा का हक था। राजा लेता था। जूते के जोर से लेता था। हम अपने-आप नहीं देते थे। कहते थे, पहले साबित कर कि तू राजा है। वह कर दे तो पाने का हकदार होता था। अब वह सब कहाँ है ?''[2]

लेखक ने पुलिस और दरोगा की गरीबों पर अत्याचार, स्वार्थपरता, बेईमानी तथा जघन्यता की अच्छी-खासी हंसी उड़ाई है -''दरोगा की महफिल जमी थी। पर दरोगा नहीं था। दीवान जी के आज सबसे ज्यादा ठाठ थे। वे लोग आपस में बातें कर रहे थे। वे खास खुशामदी, जो हर गाँव में होते है, और इन छोटे सरकारी अफसरों को खुदा का-सा दर्जा बख्श देते है, इस समय बैठकर चर्चा कर रहे थे। ये लोग किसी के नहीं थे। अपनी स्वार्थ भरी जघन्यता के लिए झूठ बोलते है, बेईमानी करते हैं।''[3]

---

१. कब तक पुकारूँ, पृष्ठ-१२३

२. वही, पृष्ठ-१२३

३. वही, पृष्ठ-३१८

पुलिस जिसे चाहे, उसे गुण्डा या चोर बनाकर पिटाई कर देती है। पुलिस-तन्त्र में उत्कोच का अत्यधिक बोलबाला है। आजादी के पश्चात पुलिस के बड़े घरेलू सम्बन्ध कायम हो गये हैं, विशेष कर ग्रामीण अंचलों में। दंगा-फसाद, अग्निकांड, डाका, हत्या, कुछ भी क्यों न हो, प्राय:पुलिस दोनों पक्षों से पैसा लेकर मामला समाप्त करा देती है। ज्यादातर पुलिस रिपोर्ट तक नहीं लिखती, घटना स्थल पर नहीं जाती, अपराधी को नही ढूँढ़ती। रिपोर्ट लिखाने वाले को धमकियों भरी मां-बहन की गालियाँ भी सुनाती है।

'अलग-अलग वैतरणी' में अपनी बेटी 'सोनवा' की हत्या से बेसुध हुआ दद्दू जब थानेदार से न्याय की फरियाद करता है तो थानेदार उल्टा दद्दू को व्यंग्यपूर्ण धमकियाँ देता है- "जब तुम्हारी बिटिया रईसों के छोकरों को फंसाती थी बुड्ढे, तब तुम्हें नहीं चेत आयी?..... थानेदार अपनी मूंछों को ऐंठते हुए बोला- ले जाकर लाश जलादो नहीं ज्यादा न्याव-न्याव चिल्लाओगे तो ऐसा फंसोगे कि छट्ठी का दूध याद आ जाएगा।"[१]

सुखराम पुलिस की ज्यादती से खिन्न है, वह रह-रहकर सोचने लगता है- "अगर पुलस-फौज न हो तो क्या दुनिया में नीचों का ही राज हो जाए? क्या हम नीचों में इतना दम है? और तब सुखराम ने नटों की तुलना की, गाँव के बनिये-बाभनों के सामने रख-रख कर तोला। ठाकुर जरुर नटों का मुकाबला कर सकते हैं। पर ऊँच जातों के दिल बड़े होते हैं। उनमें अकल है। हम लोग गमार हैं, पढ़े-लिखे नहीं हैं। उजड्ड हैं। खूनी हैं।"[२]

आाधुनिक समाज में धन अपनी अत्यंत ही महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता रहा है। समाज में वही व्यक्ति सम्माननीय हो रहा है जिसके पास असीमित अथवा अवैध धन है। यह वैभव चाहे उसने लूट-खसोट, चोरी-डकैती अथवा श्रमिक और गरीब वर्ग के शोषण से ही क्यों न प्राप्त किया हो। वह समाज में शरीफ और समाजसेवी के रूप में जाना

१. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ-४०६

२. कब तक पुकारूँ, पृष्ठ-११६

जाता है। इस अवैध धन से यदि उसने जनता के सामने कोई भी छोटा-बड़ा सामाजिक कार्य कर दिया तो समझिए कि वह जनता के पूजने योग्य हो जाता है। इसीलिए तो प्रत्येक व्यक्ति आज समाज में सम्मान प्राप्त करने के लिए पूँजीपति बनने की स्पर्धा में संलग्न है। पूँजीपति, लखपति से करोड़पति बनने की दौड़ में लगा है।" 'जिसके पास हजारों बीघे जमीन है, वह पाँच बीघे जमीन की भूख से छटपटा रहा है, बेजमीन आदमी, आदमी नहीं, वह तो जानवर है![1] 'सोनामाटी' में विवेकी राय का व्यंग्य धारदार है- "किसान के अनाज के व्यापार में आज जिसने हाथ लगाया, कल उसकी मण्डी में कोठी खड़ी हो गई, गोला दमदमाने लगा और गद्दी के इर्द-गिर्द सुनहरे शुभ-लाभ का ताम-झाम इकट्ठा हो गया। इधर किसान पुश्त-दर-पुश्त उसी अनाज को पैदा कर-कर के आज भी उसी तंगदस्ती, फटेहाल और बेहाली में बिलबिला रहा है। खेत देखकर, रकबा देखकर, गल्ला देखकर और किताबी अनुमान लगाकर किसान को खुशहाल बादशाह घोषित करने वाले कितने भ्रम में हैं। शहरी नेता, व्यापारी और शहरी सरकार के लोग कभी क्या किसान का दर्द समझेंगे?"[2]

किसान और श्रमिक वर्ग का शोषण यों तो स्वतंत्रता प्राप्ति से पहले ही से होता रहा है किन्तु स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भी इस प्रवृत्ति में कमी होने के बजाय अपार अभिवृद्धि हुई है। श्रमिक-वर्ग को उनके श्रम का पूर्ण एवं समुचित मूल्य उपलब्ध नहीं हो रहा है। पूँजीपति अपनी पूँजी के बल पर श्रमिकों का शोषण करने में व्यस्त है। श्रम के प्रति निष्ठावान रहने का दिखावा करने वाला व्यक्ति आधुनिकतम सुविधाओं से पूर्ण भवनों में ऐश्वर्यपूर्ण जीवन व्यतीत कर रहा है और किसान एवं श्रमिक वर्ग अभाव पूर्ण झोपड़ियों में जीवनयापन कर रहे हैं; उन्हें दिन भर बैलों की तरह खटते रहने पर भी मात्र दो जून की रोटी भी उपलब्ध नहीं हो पाती है।

आंचलिक हिन्दी-उपन्यासों में उच्च वर्ग की दूषित मनोवृत्ति, उनके

---

१. मैला आंचल, पृष्ठ-१७५

२. सोनामाटी, पृष्ठ-२६७

ऐश्वर्यपूर्ण जीवन, शोषण प्रवृत्ति और श्रम के नाम पर तिनका तक न तोड़ने की प्रवृत्ति पर पर्याप्त व्यंग्य मिलता है। 'मैला आँचल' में रेणु जी ने पूँजीपतियों की मनोवृत्ति का व्यंग्यात्मक चित्र प्रस्तुत किया है- "देह के जोर से आजकल सबकुछ नहीं होता। जिनके पास पैसा है, वही बोतल मिसर पहलवान है। वही सबसे बड़ा जोरावर है।..... तहसीलदार साहब को कोई कहने की हिम्मत कर सकता है कि, उनकी बेटी का चाल-चलन बिगड़ गया है?..... तहसीलदार हरगौरी सिंह अपने खास मौसेरी बहन से फँसा हुआ है। बालदेव जी कोठारिन से लपटा गए हैं। कालीचरन ने चरखा स्कूल की मास्टरनी जी को अपने घर में रख लिया है। उन लोगों को कोई कुछ कहे तो? .....जितना कानून और पंचायत है, सब गरीबों के लिये ही? हुँ!..... सैकड़ों बीघे जमीनवाले किसानों के पास पैसे हैं, पैसे से गरीबों को खरीद कर गरीबों के गले पर गरीबों के जरिए ही छुरी चलाते हैं।"[१]

'पानी के प्राचीर' में "आाखिरकार हार मानकर लोग अनाज ले-लेकर सुमेस्सर बनिया के यहाँ दौड़े और अठन्नी दे-देकर इपने-अपने बैल छुड़ाए। कुर्क अमीन सरकार की मालगुजारी वसूल नहीं कर सके किन्तु अपने आने का कर भरपूर पा गये।"[२] मुंशी जी की बातें नीरू के हृदय को कुरेद रही थी। वह सोचता रहा- "मैने गरीबी के संसार का कोना-कोना देखा है और उससे परिचित हुए तुम? वाह रे मुंशी जी! ये किसान जमीन के नीचे धन गाड़ कर रखते हैं, कैसी बेहुदी बात है! दूह लो मुंशी जी, इनकी हड्डी से रुपया दूह लो।"[3] 'जल टूटता हुआ' में रामदरश मिश्र ने सतीश के माध्यम से उच्च वर्ग की गरीबों अथवा निम्न वर्ग पर क्रूरता एवं अत्याचार पर तीखा प्रहार किया है- "एक लड़का चिल्ला रहा है, उसकी सूअर किसी बाभन के खेत में पैठ गयी थी। वह बाभन मार रहा है- साले, मेरे खेत में तेरा सूअर कैसे आ गया? हालांकि उस सूअर ने खेत का कुछ नुकसान नहीं किया है, लेकिन यह बाभन उसे मार रहा है- शायद इस छोकरे के भाई-बहन ने इस बाभन

---

१. मैला आंचल, पृष्ठ-१६९
२. पानी के प्राचीर, पृष्ठ-१५४
३. वही, पृष्ठ-१६१

के यहाँ काम करने से इनकार किया होगा।..... बाभन गरज रहा है- साले, मेरे खेत में पाँव रखा तो टांग तोड़ दूँगा। सतीश सोचता है, सारे ही खेत तो इनके पराये हैं, सारी जमीन पराई है, कोई खेत, कोई बगीचा इनका नहीं है, केवल रास्ते इनके हैं। हमेशा चलते रहें, कहीं न बैठे, न सुस्ताएँ, कहाँ जाएँ ये? आजादी के बाद भी कोई जमीन इनकी अपनी नहीं हो सकी।''[१] सतीश गरीबी की मार खाए फिर रहा है। वह अपने घर की स्थिति से भी बेहद परेशान है, वह चौधरी की कारगुजारियों से बेहद खिन्न है। ''उसे कस्बे के चौधरी की काली-लाली भोंडी आकृति तिजोरी में चाँदी के तमाम जेवर फेंकती नजर आई..... इन जेवरों के बीच में उसे अपनी माँ और पत्नी की सूनी-सूनी कलाइयाँ, सूने-सूने पैर, सूना-सूना गला और सूने-सूने कान छटपटाते नजर आये। और फिर गाँव भर, जवार भर की औरतों के सूने-सूने अंग चौधरी की तिजोरी में कांपते दिखाई पड़े!''[२] सतीश सोचते-सोचते अतीत की गहराइयों में डूब जाता है। फिर वर्तमान परिस्थिति में झाँकने लगता है। उसके पिता घर चलाने के लिए माँ के सारे गहने एक-एक करके बेचते जाते हैं। माँ बोल रही थी- ''जब से आई हूँ, तभी से तो बेच रहे हो। अंग-अंग नंगा कर डाला, और करतबी इतने कि खेत में कुछ होता ही नहीं है। तीन-चौथाई खेत रेहन पड़े हैं।''[३] सतीश को गाँव से कस्बे की ओर जाते हुए अमलेश तिवारियों की कतार-सी दिखाइ पड़ी- ''घर में अंग-अंग को उधारती हुई माताओं की गीली आँखें सीलन भरी अधगिरी दीवारों के बीच तड़पती नजर आईं। आजादी मिले इतने वर्ष हो गए, किन्तु आज भी यह गाँव सुग्गन तिवारी के रूप में कस्बे जा रहा है, आज भी जमुना भाभी के रूप में गाँव की माताएँ अपने तन का छल्ला-छल्ला उतार कर बेटी के तन की शोभा बढ़ाने की जगह चौधरी की तिजोरी में दफना रहीं हैं। बड़ा-सा पेट, काली ठिगनी मोटी सी आकृति, छोटी-छोटी आँखें, सिर पर छोटे छोटे बाल, आगे खुली हुई लाल बही और बिखरे हुए जवार भरके गहने..... चौधरी की

---

१. जल टूटता हुआ, पृष्ठ-२२४

२. वही, पृष्ठ-१७

३. वही, पृष्ठ-१९

बीभत्स आकृति सतीश की आँखों के सामने खड़ी हो गई। सतीश ने बढ़कर उसके पेट पर जोर से लात मारी और हुँकार उठा- 'कमीने! तू अभी भी जिन्दा है, आजादी मिलने के बाद भी!' चौधरी पेट पर हाथ फेरता हुआ हंसा- 'मारो, और मारो! यह पेट तो तुम्हारा ही है। तुम्हारे गहनों से भरा हुआ है, यह, चोट मुझे नहीं तुम्हारे गहनों को लग रही है। आजादी से क्या होता जाता है, मै अपनी जगह पर बदस्तूर कायम हूँ और मुझे ही क्यों देखते हो, तुम्हारे नेताओं में भी तरह-तरह के चौधरी निकल आये है।''[1] रामदरश मिश्र का यह व्यंग्य अत्यंत स्वाभाविक बन पड़ा है।

गरीबों को दो समय का ठीक से भोजन भी उपलब्ध नहीं हो पाता। बाजारों में समस्त वस्तुएँ उपलब्ध है किन्तु निम्न वर्ग की दयनीय आर्थिक दशा के कारण उनकी पहुँच के बाहर है। ''धान सोने के भाव बिक रहा है। जमीन! जिसके पास जमीन नहीं, वह आदमी नहीं, जानवर है। जानवर घास खाता है, लेकिन आदमी तो घास खाकर नहीं रह सकता!''[2] नागार्जुन ने 'बलचनमा' में जमीदारों की निर्दयी प्रवृत्ति की हंसी उड़ाई है। जुगल कामति की विधवा औरत मोसम्मात कुन्ती कहती है- ''ये लोग जुलुम करते हैं बेटा, देते हैं दो और कागज पर चढ़ाते हैं दश! इमान-धरम इनका सब डूब गया, तेल जरे तेली का और फटे मशालची का! छोटे मालिक का सरबेटा आया था अफसर बनके खैरात बाँटने। हो न हो; हजार-पाँच सौ उसने जरुर मार लिया होगा।''[3] एक प्रसंग में बलचनमा ऐसे ही एक राक्षस को ललकारते हुए बोल उठता है -''बेशक! मै गरीब हूँ। तेरे पास अपार सम्पदा है, कुल है, खानदान है, बाप-दादे का नाम है, अड़ोस-पड़ोस की पहंचान है, जिला-जवार में मान है और मेरे पास कुछ नहीं है। मगर आखिरी दम तक मै तेरे खिलाफ डटा रहूँगा। अपनी सारी ताकत को तेरे विरोध में लगा दूँगा। माँ और बहन को जहर दे दूँगा लेकिन उन्हें तू अपनी रखेली बनाने का सपना कभी पूरा न कर

---

१. जल टूटता हुआ, पृष्ठ-१९

२. मैला आंचल, पृष्ठ-१६५

३. बलचनमा, पृष्ठ-१३९

सकेगा।"[1] मालिकों को अपना अत्यधिक आदर करवाने का बड़ा शौक रहता है- "सोराजी बाबुओं में से सैकड़ों में नब्बे ऐसे ही मिले हैं, जिनको 'जी सरकार' कहलाने में बड़ा निम्मन बुझाता है। न कहो तो गुर्रा-गुर्रा कर ताकते रहेंगे। जिनगी भर जिनके कान 'मालिक- मालिक', सरकार-सरकार', 'हजूर-हजूर' सुनते आये हैं उनके लिए इन शब्दों का बड़ा महातम है। बिना छौंकी दाल की तरह बिना जी-हजूरी की बात उनको पसन्द नहीं पड़ती।"[2] नागार्जुन का यह व्यंग्य बड़ा सुन्दर बन पड़ा है। कहीं-कहीं उनके व्यंग्य की छटा बड़ी मोहक एवं दर्शनीय बन जाती है- "हमारी छोटी मलिकाइन ने कसाई का दिल पाया था। वह तुम्हें अमिरती भी देतीं तो उसमें करैले का स्वाद लगता।"[3] "भैया बात यह है कि चोला जितनी आसानी से बदलता है उतनी आसानी से आदमी का खयाल नहीं बदला करता।"[4] "समझोगी क्या? जिसके खानदान में हाथियों का कारोबार होता रहा हो उसकी अकिल बारीक हो ही नहीं सकती।"[5]

आंचलिक उपन्यासों में दैवी प्रकोप अथवा प्राकृतिक दुर्घटनाओं की वजह से पैदा हुई भुखमरी की भी कहीं-कहीं पर व्यापक चर्चा मिलती है और उससे प्रभावित उपन्यासकार व्यंग्य का सहारा लेकर किसी-न-किसी तरह से उनके प्रति सहानुभूति का मार्ग ढूँढ़ता है। 'बाबा बटेसरनाथ' में लेखक ने उस अकाल की चर्चा की है जिसमें लाखों लोग मारे गए थे। लाखों घर-परिवार उजड़ गये थे। वह अकाल थोड़ी दूर में ही सीमित न था। अपने इस देश का समूचा पूर्वी हिस्सा भुखमरी की चपेट में आ गया था। "रेल-कंपनी के लिए यह सुनहरा मौका था। कम-से-कम मजदूरी पर ज्यादा काम करने की वह अनोखी आपाधापी थी बेटा! दिन भर की कड़ी मेंहनत के बाद एक दुअन्नी हाँथ आती थी। चावल तो मिलते नहीं थे, जुन्हरी मडुआ-जैसा मोटा अनाज मिलता था। 'बूढ़े, बच्चे और ढोर-डंगर..... भुखमरी के सबसे बड़े शिकार यही थे। कई-कई दिनों

---

१. बलचनमा, पृष्ठ-७४
२. वही, पृष्ठ-१०३
३. वही, पृष्ठ-१११
४. वही, पृष्ठ-११५
५. वही, पृष्ठ-११५

का फाका, बीच में कुछ मिला तो खा लिया। फिर फाका, फिर कुछ मिला तो अन्दर डाल लिया..... जो जिन्दा थे, उनको इस क्रम ने काफी कमज़ोर बना डाला था। प्रिय से प्रिय व्यक्ति दम तोड़ देता तो लोग रोते नहीं थे।..... भूख की जल में आत्मा झंवा गई थी और आंसू गायब हो चुके थे।..... रात के वक्त गीदड़ और भेड़िये गाँव की गलियों और आंगनों का फेरा लगाया करते; मृतक की महक पाकर किवाड़ों की फाँक में अपनी थूथन अन्दर घुसाने की कोशिश से वे दुतकारे जाने पर भी बाज नहीं आते। गीधों, कौओं और कुत्तों का आपसी बैर-भाव इसलिए खतम हो गया था कि, लाशों की कमीं नहीं थी। मनुष्यों और पशुओं के कंकाल गाँव के बाहर इधर-उधर फैले दिखाई देने लगे.....

.....टूसे निकलते जरुर मगर अगले ही दिन जली हुई मूँगफली की शकल के हो जाते। नये पत्तों की लाली जाने कौन पी गया! बाकी पत्ते हरियाली के लिए तरसा करते, अकाल की कृपा से भूरा-पीला और चितकबरा बदरंग उनके रेशों पर हावी हो आया। छालें सिकुड़ गईं, तने अकड़ गए। डालों को सूखा सताने लगा; टहनियाँ ठिठक गईं। जड़ के सिरे और सोर लाख कोशिश करके भी धरती माता से कुछ अधिक रस नहीं पा रहे थे।''[१] उस समय की परिस्थिति बहुत ही विषम बन चुकी थी। अस्पताल भी खुल रहे थे। किन्तु पंडितों का अफवाह-बाजार इतना गर्म था कि सभी प्रयत्न बेकार सिद्ध हाते जा रहे थे- ''लहेरिया सराय में एक अस्पताल सरकार की तरफ से खुल गया था। लेकिन पंडितों की कृपा से कोई आदमी यहाँ का ऐसा नहीं था जो अंग्रेजी दवा का नाम भी लेता। सभी एकमत थे कि शहरों के अन्दर यह जो अस्पताल खुल रहे हैं वे हिन्दुओं को भ्रष्ट करने के खिस्टानी कारखाने हैं..... गोमांस का अर्क, सूअर का लहू, विष्ठा का सत्, आदमी की खोपड़ी का गूदा- विलायत से दवाएँ तैयार होकर आती हैं..... जोरों की अफवाहें फैली हुई थीं डाक्टरी दवाओं के खिलाफ!''[२] लेखक ने अंग्रेजी हुकूमत और उसकी क्रूरता पर धारदार व्यंग्य किया है- ''सब जगह गोरी चमड़ी वालों

---

१. बाबा बटेसरनाथ, पृष्ठ-६२
२. वही, पृष्ठ-८१

की तूती बोलती थी। कानून और हुकूमत उनके बूटों की कीलों के नीचे थे। राजाओं के मुकुट और जमींदारों के तुर्रेदार पग्गड़ फिरंगियों के रास्ते की धूल के जर्रो को चूमने के लिए बेताब दीखते थे।....."[१]

प्राचीन 'भारतवर्ष' में नारी को अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। प्राचीन समाज में उसे अर्द्धांगिनी के रूप में देखा जाता था। किन्तु मुस्लिम शासन काल एवम् अंग्रेजों के आगमन के बाद नारी की यह छबि ओझल-सी हो गई। समाज में पर्दा-प्रथा, बहु-विवाह, बाल-विवाह, अनमेल-विवाह, सती-प्रथा आदि के प्रचलित हो जाने के परिणाम स्वरूप नारी-शोषण का सिलसिला तेजी से आरम्भ हो गया। समाज में उसका महत्व गिर गया और वह भोग की वस्तु समझी जाने लगी। घर की चार-दिवारी उसकी सीमा बन गई। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात संविधान में नारी को पुरुष के समान राजनीतिक, आर्थिक एवम् सामाजिक अधिकार प्रदान करने का प्राविधान रखा गया किन्तु ये अधिकार कागज की काल्पनिक जमीन से यथार्थ की भूमि पर नहीं उतर सके। नारी को भोग वाली वस्तु समझ समाज उसके साथ अमानुषिक एवम् अनैतिक व्यवहार करता है। आरम्भ मे वह माता-पिता के बन्धनों में कसी रहती है और विवाहोपरान्त पति के उलाहनों एवं प्रताणनाओं का शिकार बनती है। उसकी स्वतंत्रता पर सभी ओर से अंकुश लगा रहता है। वह न किसी और पुरुष से बात कर सकती है, न ही खुल कर हंस सकती है। क्योंकि ऐसा व्यवहार करने वाली स्त्री को समाज 'कलंकिनी' आदि तमाम उपाधियों से विभूषित करने के लिए सदैव तत्पर रहता है। आधुनिक समाज में पैदा होते ही कष्ट का जीवन उन्हें आरंभ करना पड़ता है। और जीवन पर्यन्त उसे किसी-न-किसी के अधीन रह कर अपनी जिन्दगी गुजारनी पड़ती है।

आंचलिक उपन्यासकारों नें नारी-शोषण की समस्या को बड़े करीब से देखा है और महसूस किया है। हिन्दी के विभिन्न आंचलिक उपन्यासों में नारी के विविध समस्याओं को उजागर करने का प्रयास व्यंग्योक्ति के माध्यम से किया गया है। नगरीय परिवेश में पहले से ही व्याप्त शोषण

---

१. बाबा बटेसरनाथ, पृष्ठ-८२

की समस्या आज ग्रामीण अंचलों में भी जहर की तरह विस्तृत रूप में फैल चुकी है। आज गांव-गांव नारी-शोषण की विकट समस्या से पीड़ित है। प्राचीन सामाजिक संगठन तथा सामाजिक व्यवस्था अपनी प्राचीनता का चोला उतारकर आधुनिकता में पदार्पण कर चुका है यही कारण है कि आज नारी सम्बन्धी समस्त प्राचीन मान्यताएँ चुनौती बन गई है। आंचलिक उपन्यासों में नारी की विविध समस्याओं का यथार्थ चित्रण व्यंग्य के माध्यम से करने का प्रयास किया गया है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व से ही उपन्यासकारों द्वारा नारी समस्याओं को व्यंग्य के माध्यम से समाज के सामने प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जाता रहा है। यह समस्या समाज के लिए कितनी घातक सिद्ध हुई है। फणीश्वरनाथ 'रेणु' ने नारी समस्या के विविध पहलुओंको अपनी व्यंग्य-भाषा द्वारा सहज एवं स्वाभाविक रूप से प्रस्तुत किया है। 'मैला आंचल' की मंगला देवी ने दुनिया को अच्छी तरह देखा है- "विधवा आश्रम, अबला आश्रम और बड़े-बाबुओं के घर आया की जिन्दगी उसने बितायी है। अबला नारी हर जगह अबला ही है। रूप और जवानी?... नहीं, यह भी गलत। औरत होना चाहिए, रूप और उम्र की कोई कैद नहीं। एक असहाय औरत देवता के संरक्षण में भी सुख-चैन से नहीं सो सकती।"[१]

नारी जाति के अपमान की एक झलक रामदरश मिश्र के आंचलिक उपन्यास 'जलटूटता हुआ' से प्रस्तुत है।... "लड़का पैदा होने पर माँ को एक महीने तक दूध पीने को मिलता है मगर लड़की के पैदा होने पर पन्द्रह दिन तक। इतना बड़ा अपमान नारी जाति का? जैसे लड़की पैदा होने पर मां को आधा ही दरद होता है..... लड़का पैदा होने पर सोहर होता है। लड़की पैदा होने पर मातम मनाया मनाया जाता है, इतना बड़ा अपमान लड़कियों का, जैसे कीड़ा मकोड़ा हों- गाँव के घर-घर में तो यही देख रही है।"[२]

'लोक-परलोक' में उदयशंकर भट्ट ने चमेली के अन्तर्द्वन्द को बड़ी

---

१. मैला आंचल, पृष्ठ-१५५

२. जल टूटता हुआ, पृष्ठ-१९३

ही सहजता से व्यंग्य के स्वर में रेखांकित किया है।- "लोग मुझे अपना शिकार समझते हैं। हर आदमी की निगाह, किसी भूखे की तरह मेरे ऊपर पड़ती है। हर आदमी मेरे चाहने पर मुझे भोगने को तैयार है। यदि उन्हें मेरी हिम्मत, मेरी ताकत, मेरी मार, मेरी फटकार का पता न हो तो रात को मकान से मुझे उठाकर ले जाँय, मुझे चीथ डालें। लोग मांस के टुकड़े पर शिकारी कुत्ते की तरह मुझे ललचायी आंखों से देखते हैं।"[1] लेखक की उपर्युक्ति से मनुष्य के पासविक प्रवृत्ति 'वासना' की बू आती है।

जातिगत विद्वेश से प्रेरित विसंगतियों से पीड़ित नारी जाति की समस्याओं को आंचलिक उपन्यासों में सजीवता के समीप से उभारा गया है। उच्च वर्गो के व्यक्तियों द्वारा निम्न वर्ग की स्त्रियों को वासना की नजर से देखा जाता है और उन पर बलपूर्वक दबाव डालकर मनमानी की जाती है। 'जल टूटता हुआ' में बाभन लड़की पारबती और हरिजन हंसिया का प्रेम, वासना में बदल जाता है किन्तु असमंजस में पड़कर पारबती उसे धोखा दे देती है और हंसिया को फँसा देती है। हंसिया पकड़ा जाता है और खूब पिटाई होती है। उसकी पिटाई होते देख उसकी बहन लवंगी अपने दिल की भड़ास निकालने लगती है- "क्या हुआ अगर मेरे भाई ने एक बाभन की लड़की से भला-बुरा किया?..... चमार का खून, खून नहीं है ? बाभन का ही खून, खून है? हमारी कोई इज्जत नहीं होती क्या, बामनों की ही इज्जत होती है? जब चमरौटी की तमाम लड़कियों पर से बाबा लोग हाथ साफ करते है तो कोई परलय नहीं आती और कोई चमार बाभन की लड़की को छू दे तो परलय आ जाती है।"..[2] लवंगी के दिल को गहरी चोट लगी है; वह अभी भी आक्रोश से भरी हुई है और हरिजन नेता जग्गू से कहती है- "दलसिंगार बाबा ने पकड़ कर बेइज्जत करना चाहा था तो मै फरियाद के लिए कहां-कहां नहीं रोई, लेकिन सबने मजाक करके टाल दिया था। और तुमने भी कहा था कि जाने दो, बाबा लोगों से कौन लगे? बाप-पूत दीनदयाल बाबा से पूछिए, कितनी बार काम करते समय मेरी बाह पकड़ कर घसीटा है उन्होंने और

१. लोक-परलोक, पृष्ठ-८०

२. जल टूटता हुआ, पृष्ठ-२३५

मैं भीतर-भीतर रोकर चुप हो गई हूँ। यह जानकर कि मेरी कोई नही सुनेगा। और तो और पारबती बहिनी के बाबू जी उस बार जब होली में आये थे तो गली में मुझे पकड़कर रंग लगाने के बहाने खूब बेइज्जत करना चाहा था और, और जब फरियाद की थी तो लोगों ने मजाक में उड़ा दिया था, जैसे चमारों की बहू-बेटियाँ इसीलिए होती है।''[1] सतीश, जो थोड़ी देर पहले लवंगी का लेक्चर सुन चुका था बड़ा विचित्र अनुभव कर रहा था। ''वह देख रहा था कि लवंगी की बात में सत्य की शक्ति है, उसके आंसुओं में विद्रोह है, नये जमाने की आवाज है और सचमुच कब तक यह भेद चलता रहेगा? हंसिया की करतूत उसके संस्कारों को भी धक्के मार रही थी, उसके ब्राह्मण संस्कार को चमार के लड़के की यह बदतमीजी बहुत अखर रही थी। लेकिन लवंगी की आवाज उसके न्याय को बल दे रही थी। न्याय ही तो है, दुष्कर्म चाहे ब्राह्मण करें, चाहे चमार करे, क्या फरक पड़ता है। और यदि बाभन छोकरा, छोकरा ही क्यों, सम्मानित वयस्क भी हरिजन की बेटी पर जुल्म करता है और कोई आफत नहीं आती तो हरिजन छोकरा द्वारा बाभन की लड़की पर किये गए जुल्म पर आफत क्यों आये? जुल्म..... जुल्म भी इसे क्यों कहा जाए? पारबती सिसक रही है। यह ब्राह्मण खून है। वह स्वयं एक हरिजन बालक को अपनी काम पियासा के लिए उत्तेजित कर सारा दोष उसी पर थोप कर नकली ढ़ंग से सिसक रही है और दूसरी ओर हरिजन खून है, हंसिया है जो भरी सभा में लात खा रहा है और सारा अपराध अपने उपर ओढ़ कर पारबती के सम्मान की रक्षा कर रहा है, सत-असत कुछ भी नहीं बोल रहा है और लवंगी एक खरी लपट की तरह ब्राह्मणों के तमाम चेहरों पर उड़ती हुई उन पर लिखी अस्पष्ट लकीरों को उभारती गरज रही है।''[2]

'पानी के प्राचीर' में भी रामदरस मिश्र ने इस विसंगति पर व्यंग्य-प्रहार किया है- ''धिरेन्दर बाभन का लड़का है, यह तो उसका जन्म सिद्ध अधिकार है कि, वह चमाइनों को गाली दे, मारे, उनका जैसा चाहे, उपभोग करे (भले ही गांठ से एक भी पैसा खर्च न हो) किन्तु

१. जल टूटता हुआ, पृष्ठ-२३५

२. वही, पृष्ठ-२३६

चमार की छोकरी उसे गालियाँ दे, ताव दिखाए, यह वह कैसे बर्दाश्त कर सकता है?''[1] रामदरश मिश्र का यह व्यंग्य और भी तीक्ष्ण है- ''वे ही जग्गू हरिजन आज भी गोड़इत है, पत्तल ढोते है, गोबरहे की रोटी खाते हैं और जिनकी औरत आज भी मुरदार हंसिया लिए औरतों को बच्चा पैदा कराती घूमती है, जिनकी नयी-नयी बहू आज भी मजूरी करने पर ही मजबूर होती है और मालिकों के गाँव में जिनकी अस्मत आज भी उसी तरह खतरे में होती हैं।''[२]

'अलग-अलग वैतरणी' में शिवप्रसाद सिंह का व्यंग अत्यन्त ही तीक्ष्ण बन पड़ा है जो निम्न वर्ग के दिलों को भी कुरेदती-सी लगती है- ''अरे उठो भाई। मंगरू चौधरी ने उसकी ओर आंखे गुड़ेरकर देखा। किसुन घबराकर उठ गया। वह क्यों नाहक अपनी बात पर अड़कर बद्दू बने। जब सबकी यही राय है तो फिर यही हो। वह हाथ जोड़कर जैपाल सिंह के सामने बैठ गया। चारो तरफ खुशी की लहरें मचल उठीं। चरनी पर बैठे , ठकुराने के लठैत एक-दूसरे की ओर कनखी ताककर मुसकरा उठे। उन्हें हंसते देखकर भी घायल चमारों के मन में उद्वेग नहीं आया। चौधुरी लोगों को प्रसन्न देख, चमारिनें भी अपनी बेइज्जती करने वालों की ओर लाजभरी चितवनों से देखने लगीं। जैसे उन्हें बलात्कार को स्वीकाने में खुशी हो रही हो। चारो ओर शान्त रस की अदभुत शीतल धारा बह उठी!''[3] यह व्यंग्य चमारों की डरपोक प्रवृत्ति और उनकी अकर्मण्यता पर कसा गया है।

न जाने कितनी गरीब औरतें अपनी घरेलू परिस्थितियों वश अन्य व्यक्तियों, पूँजी पतियों, उच्च वर्ग के व्यक्तियों के भूख की शिकार हो जाती है। निम्न वर्ग की औरतें प्रायः आर्थिक संकट एवं घरेलू झगड़ों से तंग आकर तन बेचने के लिए विवश हो जाती हैं और कुछ तो अपनी शारीरिक भूख के लिए भी यह व्यवसाय करती हैं और फिर इसकी आदी हो जाती हैं। आंचलिक उपन्यासों में समाज की इस विसंगति का जीता-

---

१. पानी के प्राचीर, पृष्ठ-१३६
२. जल टूटता हुआ, पृष्ठ-२२२
३. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ-४२४

जागता चित्र दिखाई पड़ता है। 'कब तक पुकारूँ' में लेखक ने एक गरीब नारी की विवशता और उसके लिए उत्तरदायी परिस्थितियों पर व्यंग्य किया है- ''कजरी! यह दुनिया बड़ी जालिम है। मैं इतने दिन में एक बात समझा हूँ कि गरीब की सबसे बड़ी मुसीबत है। तू तन क्यों बेचती है, जानती है?'

'न बेचूँ तो जिऊँ कैसे? कजरी ने कहा: बचपन में ही आदत पड़ गई। तब मजा भी आता था सो बह गई, पर अब उसमे मन नहीं भरता। मैं चाहती हूँ कोई मुझे अपनी कहे।''[१] रांगेय राघव ने 'प्यारी' के माध्यम से मर्दो की मर्दानगी पर व्यंग्य किया है। प्यारी एक अजीब से अन्तर्द्वन्द में फंसी हुई है। उसके मन में अनेकों प्रश्न एक साथ कौंध जाते हैं-

''क्यों स्त्री एक और स्त्री को नहीं सह सकती? मरद क्यों दूसरे मरद को नहीं सह सकता?

कमीनों में परख नहीं होती।

बड़ी जातवाले तो इसी पर सबको आंकते हैं।

उनके यहाँ जो पतबरता का इज्जत है।

और सच तो, नटनी और कुतिया में फरक ही क्या है?

पर मरद को दोष क्यों नही लगता? भगवान ने ही तो मरद को मरद और औरत को औरत बनाया है। अपने आप तो कोई बनके दिखा दे।''[२] प्यारी अपनी औरत जात होने को धिक्कारती है और भगवान से न्याय माँगती है- ''मुझे उठा ले। अपने पास बुला ले। दुख दे-देकर, मुझे जिला-जिलाकर न मार। मेरा पाप क्या है? पराये मर्दो के संग सोई हूँ तो तूने मेरी जात ऐसी बनाई क्यों? तभी तो आज यह बीमारी भोग रही हूँ।''[३] ''क्या जवानी और तन ही सब प्यार की जड़ है? ठीक ही तो है। मरद भी तो लुगाई के आने पर मां का कहना नहीं मानता। दूध पिला-पिला के दिन-रात एक करके पालती है अम्मा, पला-पलाया लेकर

---

१. कब तक पुकारूँ, पृष्ठ-७७

२. वही, पृष्ठ-१०६

३. वही, पृष्ठ-१०७

मौज उड़ाती है बहू; और फिर उसे भी अन्त में एक दिन मां बनके यही अन्त देखना पड़ता है।''[1] इस उक्ति में नारी की दर्द और व्यथा की गहरी संवेदना दिखाई पड़ती है। ऐसी ही एक और आहट नारी की चित्तवृत्ति को उद्वेलित करती है- ''अभागिन! तू औरत बनकर जन्मी ही क्यों? स्त्री होकर तू कभी मनचाहा पा सकती है? कभी नहीं। यह दुनिया बड़ी निर्दयी है।''[2] ''नट की छोरी पर जवानी आती है और गन्दे आदमी उसे बेइज्जत करते हैं, फिर भी वह रंडी की तरह जिए जाती है। जिए जाती है। मर क्यों नही जाती? हम सब मर क्यों नही जाते?''[3]

'पानी के प्राचीर' में रामदरश मिश्र के व्यंग्य अबलाओं पर हो रहे कुकृत्यों एवं शोषक वर्ग के गन्दे इरादों का पर्दाफाश करते है- ''गुलाबी के सामने सतीत्व का तो अब कोई महत्व नहीं किन्तु वह गाँव वालों की घातक दुहरी प्रवृत्ति से परेशान हो गई थी। एक ओर ये गाँव वाले उसकी शिकायत करते हैं, दूसरी और उसका हाड़ निचोड़ने के लिए मांस-भक्षी पशु की तरह चक्कर काटते हैं।''[4] गुलाबी अपनी परेशानियों से तंग आ चुकी थी। ऊपर से लोगों के व्यंग्य और उपेक्षा, तिस पर लोगों की घूरती आँखें। क्या करे वहाँ न जीते बनता है, न मरते। गाँव वाले उसका रहा-सहा निचोड़ लेना चाहते है। नीरू नारी-शोषण की समस्या से अत्यधिक चिन्तित दिखाई पड़ता है। वह नारी का दर्द समझता है। वह अबला नारी के प्रति सहानुभूति रखता है। नीरू कहता है- ''मै जानता हूँ कि असहाय अबलाओं को छिपे-छिपाये अपनी वासना के होठों से चूस कर फेंक देने वाले, अपने कुकर्मो का पर्दाफाश करने वाले हमारे भीतर भरे पड़े हैं लेकिन साहस के साथ दुनिया की झूठी बदनामी की परवाह किए बिना एक नारी का हाथ पकड़ना और उसकी संतान को अपनी संतान के रूप में स्वीकार करना बहुत बड़े पुरुषार्थ का कार्य है। बैजू ने आज एक पवित्र कार्य किया है। मै उसे बधाई देता हूँ ।''[5] 'सोनामाटी' में विवेकी राय

---

१. कब तक पुकारूँ, पृष्ठ-१०६
२. वही, पृष्ठ-१६
३. वही, पृष्ठ-२६८
४. पानी के प्राचीर, पृष्ठ-२०५
५. वही, पृष्ठ-२०७

MEHTA LIBRARY

ने भी नारी की व्यथा को व्यंग्य के तेवर में अभिव्यक्त किया है- "अपने गरीब बाप के घर जवान हुई तब से हर आदमी हमारे पास 'खास' काम के लिये ही आया है मास्टरजी। यहा एकदम एकांत है। कहिये, सेज लगा दूँ, अपने को सौप दूँ? एक बेटी और क्या कर सकती है? यदि सुग्रीव जी की तरह आप भी कहीं और सौदा कर आये हों तो 'राज-सुख भोग' के लिए उस पाँचवे बाबा के पास आपके साथ चलूँ?.... बोलिये, चुप क्यों हो गये मास्टरजी? हमको हुक्म दें।"[1]

आंचलिक उपन्यास 'काका' में रांगेय राघव ने अबला और विधवा नारी की शारीरिक एवं मानसिक पीड़ाओं तथा परिवेश-प्रेरित विषम परिस्थियों में जकड़ी उसकी वेदनाओं का जीता-जागता चित्र खीचा है। व्यंग्य के कुटिल कुहासों में लेखक की अभिव्यक्ति अत्यन्त सजीव बन पड़ी है। काका के 'कान्ता' और 'बिन्दिया' के मध्य आपसी बातचीत से नारी की व्यथा का रेखांकन सहज और यथार्थ रूप में हुआ है -

"बिंदिया ने झल्लाकर कहा- 'क्यों बुला लिया था उसे, बीबी जी? विधवा हो गई पर रस की बातें सुनने का लोभ न छूटा। चोरी नहीं करेगी तो हेराफेरी से कौन रोकेगा?

कान्ता तिलमिला गई। तड़पकर कहा- 'तुम लोगों के घर ऐसा व्यभिचार होता है, यह मैं क्या जानती थी? यहाँ ऐसे लोग भी आते हैं? और तुम मुझे ही दोष देती हो?'

कान्ता रोने लगी। बिंदिया का मन पिघला। कहा-'रोती क्यों हो? मैंने क्या तुमसे कुछ कहा है? वैसे ही रो-रोकर डरा रही हो जाने कहाँ से ले आई हो यह रूप! और सुन्दर ही थीं तो विधवा क्यों हो गई? मर ही क्यों न गई?'

कान्ता फूट-फूट कर रोने लगी। बिन्दिया ने कहा-'तुम नहीं रह सकोगी यों बीबीजी। ये लोग तुम्हें खा जाएँगे। तुम-सी एक मास्टरनी थी। ऐसा पाप किया लोगों ने उससे धोखे से कि वह किसी को मुँह दिखाने लायक नहीं रही। जमुना जी में डूब कर मर गई। मथुरा जी को तो जमुना का सहारा है जो इसके सारे पाप बहाकर ले जाती हैं, नहीं तो सब अगर

---

१. सोनामाटी, पृष्ठ-१३३

यहीं रह जाते तो शायद मथुरा नगरी ही डूब जाती।'

बिंदिया का अपराजित विक्षोम उसके होंठों पर काँपने लगा। उसने कहा- 'बिना लोग के लुगाई का रहना तो इस दुनिया में असंभव ही समझो। कच्चा ही चबा जाएँगे ये पापी।'

कान्ता ने रोते हुए कहा-'जब पुरुषों ने ऐसे कायदे बनाए हैं तो फिर स्त्रियों को चैन से दुख भी क्यों नहीं पाने देते? इसलिए कि वे स्वामी है, स्त्रियां उनकी दासी हैं? पाप स्त्री को ही क्यों लगता है? पुरुषों को क्यों नहीं लगता?'

बिंदिया ने कहा- 'जब औरत चम्पा जैसी हो जाती है तो पाप मरदों को लगने लगता है। तुमने सुना था चम्पा कह रही थी उनकी नीयत रास्ते में बिगड़ी थी। बीबी ज़ी! पंडाओं के घर में जिजमान मौज़ करते हैं। औरतें खूब उनसे माल पोंटती हैं। मै तो नहीं करती कुछ। और मेरे घर में तो लाला जैसे चाँद के टुकड़े थे। मेरी तो नीयत नहीं बदली? फिर वह पचास के हैं, मै अभी उन्नीस की हूँ।'.....
.....पर यह न समझना कि मैं यह खेल तुम्हें खेल लेने दूँगी। मन आ गया है, तो कोई बात नहीं, काबू में रखो। मेरा लाला दूध का धोया है। वह मूरख है। उसके भी एक फाँस अटक रही है कहीं जरूर।''[१] एक जगह पर और बिंदिया कान्ता से कहती है- ''जानती हो रोटी की भूख कैसी होती है? जब खाने को नहीं मिलता तो लुगाई बाजार में जाकर बैठती है। तुम ऐसे बड़े घर की नहीं हो कि घर बैठे रंडापा कट जाय। जहाँ इतने पाप हैं वहाँ एक छोटा पाप ही करो, जिससे बड़े पाप से तो बच जाओ। खबरदार, यही रहना।''[२] राँगेय राघव ने भी आदमी के भेड़ियापन और राक्षसी प्रवृत्ति पर व्यंग्य किया है - ''कान्ता के नेत्रों में स्नेह के आँसू आ गए। बिंदिया ने पास आकर कहा- 'जवान हो, अच्छी हों। यहां के मरद बड़े भेड़िये हैं। इसी से कहती हूँ तुम होशियार रहना।''[३] लेखक ने बिंदिया के माध्यम से मथुरा के पण्डों की बखिया

१. काका, पृष्ठ-१३७

२. वही, पृष्ठ-१५३

३. वही, पृष्ठ-१२५

उधेड़ी है। इससे पण्डों की असलियत एवं चरित्र का पता चलता है- ''कहाँ जाओगी? जमुना में कछुए, आसमान में गिद्ध और मथुरा में पण्डे किसी को नहीं छोड़ते। यहाँ भेड़ियें है तो बाहर तो शेर है।''[1] ''आप नहीं जानतीं, बीबी जी। ये पण्डे बड़े बुरे होते हैं। जवान औरतों को पहले तो मीठी-मीठी बातें करके रख लेते हैं, फिर रूजगार करवाते हैं.....''[2] पात्रों के उपर्युक्त कथनों में यथार्थ की तीव्र पीड़ा होते हुए व्यंग्य की अभिव्यंजना हुई है।

पुलिस भी उपन्यासकारों की सूक्ष्म परख से बच नहीं पायी है। गरीब और असहाय अबलाओं के प्रति पुलिस की नीयत भी सदैव से संदेहास्पद रही है। पुलिस का अत्याचार महिलाओं पर भी पुरुषों के समान होता है। आंचलिक उपन्यासों में पुलिस की इस गन्दी नीयत पर अच्छी-खासी छींटाकसी की है। 'कब तक पुकारुँ' में रांगेय राघव ने पुलिस की दुश्चरित्र नीयत पर तीखा व्यंग्य किया है। ''दरोगा हँसा। उसकी नुकीली मूँछें देखकर मुझे डर लगने लगा था। प्यारी घूँघट में से देख रही थी। दरोगा की नजरें बार-बार उस पर पड़ती थी। प्यारी शायद यह ताड़ गई थी। उसके उठे हुए वक्ष पर दरोगा की नजरों के सांप बार-बार फन मारते और फिर वह गडेड़ी मारते, अपना रोश दिखाते इसीला पर। मैं विक्षुब्ध था।..... सौनो कह रही थी:
'जानती है; सिपाही क्यों आया था?'
'जानती हूँ।' प्यारी ने कहा: 'दरोगा मुझे दिन में घूर रहा था। मरे की तबीयत आ गई है। पर सुखराम तो न मानेगा।'

'नहीं मानेगा? अरी, ये तो औरत के काम हैं। उसे बताने की जरुरत ही क्या है!'

'सो तो है, पर बुरा समझेगा न!'

'औरत का काम औरत का काम है। उसमे बुरा-भला क्या? कौन नहीं करती? नहीं तो मार-मार के खाल उड़ा देगा दरोगा। और तेरे बाप और खसम दोनों को जेल भेज देगा। फिर कमेरा न रहेगा तो क्या

---

१. काका, पृष्ठ-१२५
२. वही, पृष्ठ-१३५

करेगी? फिर भी तो पेट भरने को यही करना पड़ेगा।''[1]

'मैला आंचल' के सप्लाई इन्स्पेक्टर साहब गिलास में चुस्की लगाते हुए मुस्कराते है- 'अरे, धत्! इस मुर्ग- मुसल्लम से गर्मी थोड़ी आएगी! अरे कोई दो टाँगवाली मुर्गी.....'

'क्या पूछते है, आज..... महतमाजी के सराध की वजह से सभी भोज खाने चली गई हैं।'

दुलारचन्द कापरा कहता है, 'ऊँह! ऐसा जानता तो कटहा से ही दो रेफ्यूजिनी को उठा लाते। सब मज़ा किरकिरा कर दिया।''[2] पुलिस वालों का आतंक इतना तक है कि, गरीब नट और उनकी औरतें-लड़कियाँ पुलिस की हवा पाते ही छिपती, भागती-फिरती हैं। सुखराम कहता है- ''हम इतना ही जानते थे कि सिपाही में बड़ी ताकत होती है। वह राजा का आदमी होता है। वह सबसे घूस लेता है। गांव के लोग उससे डरते हैं। वह बड़ी जातों में उठता-बैठता है। वह जिधर जाता है, उधर ही नट दौड़ कर छिप जाते हैं। हम तो यहीं देखते आ रहे थे कि, चाहे जब, चाहे जिस नटनी-कंजरिया को पकड़ ले जाता है। हम सब उससे डरते थे क्योंकि वह थाने में पकड़ ले जाता था। वहाँ वह हमें चोर कह देता था। फिर हम लोग बेंतो से पिटते थे। कभी-कभी गुड़ के पानी के छींटे दे दिए जाते थे जिससे चैटे लग जाते थे और देही सूज जाती थी। ज्यादा किसी ने सिर उठाया तो वह जेल की हवा खाता था। चक्की पीसते-पीसते उसकी धज्जियाँ उड़ जाती थीं। एक बार एक सिपाही से एक नटनी को कोई बिमारी लग गई थी। उसका इलाज बड़ी मुश्किल से हुआ था।''[3]

नारी आज प्राचीन मान्यताओं के व्यामोह से मुक्त होकर अपनी कर्मठता से समाज में पुरुष के समकक्ष प्रतिष्ठित होने के लिए क्रियाशील हुई है। आंचलिक उपन्यासों में चित्रित नारी एक ओर जहाँ समाज और पुरुष के अत्याचारों को सहन करती हुई दिखाई देती है, वहीं दूसरी ओर

---

१. कब तक पुकारूँ, पृष्ठ-३४
२. मैला आंचल, पृष्ठ-२९६
३. कब तक पुकारूँ, पृष्ठ-४८

अपने कार्य-व्यवहार एवम वैचारिक चिन्तन में नवीनतम मानसिकता को धारण किए हुए भी दिखाई पड़ती है। पारम्पारिक सारहीन सन्दर्भो को आज वह निःसंकोच ठुकराने लगी है। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अपने अस्तित्व का आभास निरन्तर करवा रही है। अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व के लिए अब वह संघर्षशील है। 'सोनामाटी' की 'विद्या' भी जीवन संघर्ष कर आगे बढ़ने की अभिलाषा रखती है मगर कई बार वह अन्तर्द्वन्द में फंस जाती है- "उसे लग रहा था, भूल जाय वह यूनिवर्सिटी की पढ़ाई तो अच्छा। मगर यह संभव नहीं हो सका। वह नयी उतरती दुलहिन को देख-देख कितना कुछ सोच रही थी। यह शिक्षिता कैसे परम्परा पालन में जुटी है और उसके साथ उसका वैसा वाचाल विधायक भाई कैसे गाय की तरह सीधा हो चुपचाप सारा करमट झेल रहा है ?"[१]

भारतीय समाज में विवाह को शुभ एवं पवित्र बन्धन के रूप में स्वीकार किया गया है। खुशी से भेंट किया जाने वाला 'उपहार' आज 'दहेज' का रूप धारण कर समाज का विष बन चुका है। आधुनिक समाज में दहेज प्रथा ने व्यापक जाल फैलाकर इस पवित्र रस्म को प्रायः अपवित्र-सा कर दिया है, और विवाह को एक विकट समस्या के रूप में प्रचारित किया है। आज नारी का जीवन दहेज रुपी विष से संत्रस्त है। आंचलिक उपन्यासों में विवाह की विडम्बना दहेज एवं सम्बन्धित विकृतियों पर तीक्ष्ण व्यंग्य-प्रहार किए गये हैं।

यहाँ दहेज लेना और देना भी प्रतिष्ठा की बात समझी जाती है। जिसको जितना अधिक दहेज मिलता वह उतनी ही अधिक प्रतिष्ठा पाने की अपेक्षा रखता है। 'पानी के प्राचीर' में मुखिया के मन में दहेज का सपना हमेशा छाया रहता है, क्योंकि, "दहेज से आर्थिक लाभ जो होता है सो तो गौण बात है; प्रमुख बात है; प्रतिष्ठा। मेरे बेटे को इतना दहेज गांव भर में सबसे अधिक मिला, यह अहंकार स्वाभाविक है।"[२] और इसी प्रतिष्ठा पाने की धुन में मुखिया आँख मूंद कर विवाह करने के लिए तैयार हो जाता है- "मुखिया सुख-दुःख के चक्रव्यूह में फँसे थे।

---

१. सोनामाटी, पृष्ठ-३६१

२. पानी के प्राचीर, पृष्ठ-१४८

गाँव में सबसे अधिक दहेज उन्हें मिल रहा है, यह गर्व उनके रोम-रोम से फूट रहा था। इस खुशी में किसी ने यह भी नहीं पूछा कि लड़की कैसी है? किस उम्र की है? कौन गुन-ढंग जानती है? उन्हें यह भी मालूम न हो सका कि, यह घनश्याम तिवारी के यहाँ का तिरस्कृत माल है।''[१] विवाह के लिए लड़का चयन करते समय लड़के से अधिक उसके परिवार, परिवार की सम्पत्ति आदि को देखा जाता है। यहीं नहीं, लड़की वाले भी अधिक-से-अधिक धन देकर ज्यादा-से-ज्यादा प्रतिष्ठा प्राप्त करने के अभिलाषी रहते हैं। ''बड़ी बात यह है कि, लोग अपनी संतानों के मूल्य पर अपने अहंकार की तृप्ति करते हैं। संतानों को अभागों के हाथ में देकर लोगों से यह शाबाशी पाना चाहते हैं कि, उन्होंने शुद्ध ऊँची जाति में अपनी लड़की ब्याही है।''[२] लोग दिल खोल कर विवाह के उत्सवों में अन्धाधुन्ध पैसा खर्च करते हैं। चाहे जैसे भी, धूम-धाम से शादी होनी चाहिए। यहाँ तक कि इस दिखावे के लिए खेत वगैरह भी बेच देने तक की नौबत आ जाती है। मकान को भी दाव पर लगाने से नहीं हिचकते। व्यक्ति की इस मानसिकता पर विवेकी राय ने करारा व्यंग्य किया है- ''एक तो खेती लाभकर नहीं है, नयी खेती भी हाथी-दात सिद्ध हो रही है; दूसरे, यहाँ की सामाजिक एवं सांस्कृतिक परम्पराएँ हैं जो बड़े प्रेम से ग्रामीण किसानों का मांस नोच-नोच कर खा रही है। विवाह आदि के मंगल समारोह यथार्थ रुप में अपनी मृत, रूढ़, दिखाऊ और मूर्खताभरी फिजूल खर्ची की परम्पराओं को लेकर बहुत अमंगल पूर्ण है। ऋण काढ़ कर तथा खेत बेच कर उत्सव मनाने का अर्थ शास्त्र कितना भयानक है?''[3]

गरीब बाप कर्ज चुकाने के लिए अपनी बेटी का अनमेल विवाह भी कर देता है। विवाहोपरान्त बेटियाँ विधवा होकर नरक जैसा जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य हो जाती हैं। धन-लोलुपता के कारण जानबूझ कर कई लोग अपनी मासूम बेटियों को बूढ़ों से ब्याह देते हैं जिसका विषफल उसकी बेटी को ही खाना पड़ता

---

१. पानी के प्राचीर, पृष्ठ-१५१

२. जल टूटता हुआ, पृष्ठ-२१२

३. सोनामाटी, पृष्ठ-१६६

है। 'नयी पौध' का खोंखा पंडित भी एक ऐसा ही बाप है जो अपनी सभी बेटियों को पैसों की खातिर बेच देता है।

"महेसरी से उन्हें ११००) मिले थे।
भुवनेसरी से ८००) मिले थे।
गुनेसरी से ७००) मिले थे।
गुंजेसरी से १०००) मिले थे।
बानेसरी से ७००) मिले थे।
धनेसरी से ९००) मिले थे।

और अब बिसेसरी का नम्बर था। फसल तैयार खड़ी थी, कटने-भर का विलम्ब था!"[1] (बेटी बेचने का यह लिस्ट उपन्यास में प्रयोग करने का लक्ष्य, इस बुराई पर धारदार व्यंग्य करना ही है। पूरे उपन्यास की भाषा-संरचना में व्यंग्य का तेवर निहित है।यह आर्थिक परिस्थितियों से प्रेरित सामाजिक व्यंग्य है।) बड़ी बहन 'रामेसरी' जो तेरह वर्ष पहले ही विधवा बन चुकी थी, अपने बाप की लालची और निर्दयी प्रवृत्ति से बेहद क्षुब्ध थी- "रामेसरी अपने अभाग पर उतना कभी नहीं रोई जितना कि, बहनों की बदनसीबी पर रोती रहती थी। सभी बहनें माँ-बाप को सराप दिया करती थीं। कोई गूंगे के पल्ले पड़ी थी तो कोई बौड़म के पल्ले। कोई तीन जिला पार फेंक दी गई थी तो कोई पाँच सौ कोस पर। उनमें से चार को भाग्य ने वैधव्य के बीहड़ जंगल में डाल दिया था। एक पगली हो गई थी, एक को उसके आदमखोर पति ने किरासन तेल की मदद से जलाकर खाक कर डाला था। अपनी बच्ची के सौंदर्य पर जहाँ उसे अभिमान था, वहीं अपने बाप के राक्षसी लोभ पर उसके मन में घृणा ही घृणा थी। कई बार वह सोचती कि, बिसेसरी को कनेर की गुठली घिसकर पिला दे! क्या करेगी जीकर बिसेसरी? ऐसी जिन्दगानी से मौत लाख गुना बेहतर!! मगर, मां का मोह रामेसरी के परिताप पर मानो चन्दन का लेप चढ़ा जाता। वह रोती हुई बिसेसरी को खींचकर अपनी छाती से सटा लेती। होठों से आहिस्ते से चूमकर गाल

---

१. नई पौध, पृष्ठ-१०

से गाल सटाकर अपनी बैचेनी पर हावी हो जाती। साँस अपनी स्वाभाविक गति पर आ जाती और फिर निद्रादेवी का दरबार बेचारी को अन्दर दाखिल कर लेता।''[1] अन्ततः खोंखा पंडित बिसेसरी की शादी भी पक्की कर देना चाहता है। बहुत से लोगों को गाँव की और नाक कटने की आशंका पहले से ही हो गई थी। ''आज समूचे गाँव की नाक कटने वाली थी। पन्द्रह साल की बिसेसरी साठ वर्ष के चतुरानन चौधरी को ब्याही जाने वाली थी!! दिगम्बर ने यह खबर सुनी तो उसे ऐसा लगा कि, किसीने भर-भर कलछी खौलता हुआ कडुवा तेल बारी-बारी से उसके दोनों कानों में डाल दिया है।''[2]

इधर खोंखा पंडित न जाने क्या-क्या मंसूबे बना रहा था- ''उमर जरा ज्यादा है तो क्या हुआ? कम उमर के लोग क्या नहीं मरते है? बाबा बैद्यनाथ की अनुकम्पा होगी तो इसी दूल्हे के घर विश्वेश्वरी की कोख से एक से एकइस सन्तान हो सकती है। ५०० बीघा जमीन की मलिकाइन बनेगी हमारी विश्वेश्वरी! इहलोक और परलोक दोनों बन जाएगा।''[3] खोंखा पंडित घटकराज मटुकी पाठक पर पूरी तरह निर्भर थे ''उन्हीं महानुभाव ने विश्वेश्वरी जैसी कन्या-रत्न के लिए इस प्रकार का परम सुदुर्लभ वर-रत्न ढूँढ़ निकाला था। जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ- अब और क्या चाहिए?..... रामेसरी को छोडकर बाकी सभी लड़कियों के लिए वर खोजने का श्रेय आपको ही प्राप्त था। यह आपके शुभ परामर्शों का परिणाम था कि पंडितजी चार हजार का कर्जा चुका सके और दो बेटों को शादी के बाद अपनी-अपनी विधवा सास की जायदाद हाथ लगी।''[4] नागार्जुन ने विवाह की इस पद्धति एवं समाज के ऐसे दरिन्दों पर गहरा व्यंग्य-प्रहार किया है। यह विवाह नहीं, सौदा है। विवाह के नाम पर बहुत बड़ा कलंक है। धनप्राप्ति हेतु किया जा रहा यह घिनौना कार्य समाज को कितना दूषित कर रहा है? धनप्राप्ति के लिए अपनी कन्या-रत्न को दाँव पर लगा देना कितनी लज्जा जनक बात है।

---

१. नई पौध, पृष्ठ-१०
२. वही, पृष्ठ-१७
३. वही, पृष्ठ-१७
४. वही, पृष्ठ-१८

इस तरह न जाने कितनी मासूम बालाएँ अपने बाप की अर्थ मोह एवं पैसों की लालच की शिकार हो जाती हैं। नागार्जुन का व्यंग्य अत्यन्त ही तेज-तर्रार बन पड़ा है- "लगन का वह अन्तिम दिन नहीं था, फिर भी पटापट सौदे पट रहे थे। लड़की वाले और लड़के वाले, दोनों एक-दूसरे का शिकार कर रहे थे। कलकत्ते के रोयल एक्सचेंज में, बम्बई के कालबादेवी वाले मुहल्ले में और दिल्ली के चाँदनी चौक की गलियों में सट्टेबाजी की हलचल देखी है कभी आपने? हाँ? तो बस समझ लीजिए कि मैथिल ब्राहमणों की ब्याह की इस अनोखी मण्डी में कुछ वैसा ही चल रहा था! गजब की चहल-पहल थी। ऐसा लगता था कि समूची दुनिया के लोग इन चार दिनों के अन्दर ही क्वारों-क्वारियों का ब्याह कर डालेंगे! घटकों और दलालों की कुछ मत पूछिए, वे अंधेरे में ही निशाना साधते हैं। रिश्तों की तुक शायद ही कभी ठीक बैठती हो.."[१]

दहेज प्रथा आज देश में कैंसर बनकर बुरी तरह समाज में व्याप्त है। यह अपना खूनी पंजा लिए गरीब बाप और उसकी मासूम बेटियों के दरवाजे पर दस्तक दे रही है। 'जल टूटता हुआ' में 'मास्टरजी' अपनी बेटी की शादी के लिए बड़े चिन्तित दिखाई दे रहे हैं- "यह भयानक गरीबी,.....यह अभाव.....मगर लड़की की शादी तो करनी ही पड़ेगी... तीन-चार साल से खोज रहा हूँ, पर कोई मिले तब न। दहेज .....दहेज. दहेज....., सुना था कि स्वराज्य मिलने पर देश सुधरेगा, समाज में क्रान्ति होगी, सरकार दहेज लेने वालों को कड़ी सजा देगी; लेकिन पन्द्रह साल पहले बहन की शादी के समय जो परेशानी हुई थी, वह तो आज और बढ़ गई है। जो लड़का जितना पढ़ा-लिखा मिलता है, उसका भाव आज उतना ही तेज है। लगता है, आज के समाज के लोगों की शिक्षा और प्रतिष्ठा केवल दहेज लेने तक सीमित है।"[२] रामदरश मिश्र का यह व्यंग्य दहेज माँगने वालों का छीछालेदर करता प्रतीत होता है।

गरीबी के कारण कितनी मासूम बेटियों की शादी ठीक समय पर

---

१. नई पौध, पृष्ठ-२०

२. जल टूटता हुआ, पृष्ठ-२२

नहीं हो पाती और जब उम्र अधिक होने लगती है तो बड़ी-बूढ़ियों के उलाहनों का शिकार उन्हें बनना पड़ता है। वे चर्चा की विषय बन जाती हैं। 'हिरना सांवरी' के गाँव में भी कुछ ऐसा ही माहौल था- "गाँव में अभी भी कई शादियाँ पलनों में हो रही थीं और होने वाली थीं। पलनों में ही क्यों, दो गर्भवती स्त्रियाँ आपस में वादा करती कि यदि उनके टुरा-टुरी (लड़का-लड़की) हुए तो उन्हें व्याह दिया जाएगा। लेकिन पन्द्रह-सोलह साल तक अनव्याही रहने वाली टुरियों की भी अब गाँव में कमी नहीं थी। ऐसी टुरियाँ गाँव की बड़ी-बूढ़ियों के तानों व चर्चा का विषय होतीं। वे च-च करती हुई इस काले जमाने को दोष देतीं और मनाती रहतीं कि जल्दी से जल्दी पिरलय हो जाए।..... टुरियाँ दो कारणों से बड़ी उम्र तक कुंवारी रह जाती थी। एक तो यह कि उनके भाई या अन्य रिश्तेदार शहर जा कर पढ़-लिख आते थे और बाल-विवाह का विरोध करते थे। जब टुरों ने ही देर से शादी करने की जिद पकड़ ली थी तो टुरियों को बड़ी उम्र तक कुंवारी रह कर इन्तजार करना ही था। दूसरा कारण पैसों का था। माता-पिता लाख चाहकर भी बेटियों की शादी न कर पाते क्योंकि उनके पास दहेज के लिए पैसा नहीं होता था। कुछ लोगों में दहेज बेटे वाले देते थे। उन्हें भी पैसों के लिए माथा पीटना पड़ता था।..... मेरे चौदह साल तक अनव्याही रह जाने के पीछे ददा की गरीबी ही तो छुपी थी। उनका बस चलता तो मुझे आठ-दश साल की उम्र में किसी के गले बांध देते लेकिन दो जून की रोटी ही जब मुश्किल से जुट पाती थी, शादी का सवाल नहीं उठता था।"[१] यहाँ 'मनहर चौहान' ने 'बाल-विवाह' जैसी कुप्रथा पर व्यंग्य किया है।

'विधवा-विवाह' की भी आंचलिक उपन्यासों में कही-कहीं पर व्यंग्य-पूर्ण चर्चा हुई है। नागार्जुन ने 'दुखमोचन' में विधवा-विवाह' के विरोधियों पर भी करारा व्यंग्य किया है। वेणी माधव की विधवा बहन के कपिल देव के साथ पुनर्विवाह की बात सुनते ही नित्यानन्द बाबू की चेतना झटका खाती है- "सारी खुराफात अकेले उसी के दिमाग की ऊपज

---

१. हिरना सांवरी, पृष्ठ-१५

है, नित्यानन्द भाई! आप और मुंशी जी अगर चाहें तो अब भी इस कुकर्म का प्रतिकार हो सकता है.....शिव शिव शिव शिव! अब यह गाँव भले आदमी के रहने लायक नहीं रह गया है, टेकनाथ!

नौकर से कहा-गरम पानी तो ले आ घुटरा, कुल्ली करुँगा। मुँह का स्वाद खराब हो गया है।.....

-क्या करते रहते हो? इतना भी नहीं होता कि, चौकस रहकर पास-पड़ोस की गतिविधियों का अन्दाज रखो! अब क्या कर लोगे? जाओ, रतजगा करने से क्या फायदा?.....

.....जब भगवान की यही मरजी है तो हम-आप क्या कर लेंगे, नित्या भाई?''[१]

आंचलिक उपन्यासों में 'प्रेम' और 'विवाह' जैसे रस्मों की विकृतियों पर भी व्यंग्य के तेवर देखने को मिलते हैं। 'कब तक पुकारुँ' में रांगेय राघव ने गाँव को अनगढ़ करार देते हुए राजस्थानी रजवाड़ों की स्त्री-पुरुषो के प्रेम सम्बन्धों, विलायती व शहरी प्रेम तथा स्त्रियों की पोशाकों पर भी गहरी चोट की है -''गाँव अनगढ़ होता है। यहाँ प्रेम का अर्थ स्त्री-पुरुष का शारीरिक मिलन है। ठाकुर और रजवाड़ों में देश प्रेम दो तरह का होता, स्वकीया प्रेम यानी गुलामी का दस्ता-वेज और परकीया प्रेम यानी व्यभिचार! शहरों में आंखों का प्रेम चलता है, बच्चे पैदा होना अलावा बात है। विलायत में हमारे अनगढ़ गाँवों का -सा प्रेम चलता है, बल्कि वहां तो औरत को नंगी रहने की जरूरत आ पड़ती है। हमारे यहां भी राजस्थानी पोशाक में औरत का सीना दिखाई देता रहता है, मुंह ढ़का रहता है और फिर भी वह प्राचीन माना जाता है। कैसा अजीब है! फ्रांस की औरतों को दुनिया नंगी कहती है, पर राजस्थान में कोटा की औरत अपनी छातियों को आधा खोलकर चलती है।

पोशाक अदब और धर्म से नहीं, समाज के कानून से ताल्लुक रखती है। अपने राजस्थान में मर्द नंगे बदन ही ठीक है, विलायत में मर्द का बदन दिखाना बेअदबी की निशानी है; और मध्य वर्ग जो सबसे

---

१. दुखमोचन, पृष्ठ-८०-८१

मजेदार चीज है, उसके अपने पैमाने इतने मजेदार हैं कि बयान नहीं किए जा सकते।''[1] लेखक ने 'नरेश' और 'चंदा' के माध्यम से प्रेम की शक्ति और उसकी अन्तिम परिणति पर विचारात्मक कटाक्ष किया है। किन्तु यह सब प्रकृति प्रदत्त है कहकर उसने मनुष्य की महात्वाकांक्षा को महान भी बताया है। ''क्या सचमुच प्रेम में इतनी शक्ति है? आधुनिक विज्ञानवादी तो कहते हैं कि, वासना केवल उच्च वर्गों का ही खिलवाड़ है। क्या यही सीमित दृष्टि अपने आपमें पूर्ण है?.....

..... वह क्या है जो मूलत: स्थिरमति मनुष्य को इतना चंचल कर देती है? क्या यह प्रेम वैसा ही नहीं है? इस प्रेम का अन्त क्या है? वासना और लय! नहीं, नहीं, मुझे अपनी सीमाओं पर स्वयं विक्षोभ हो रहा है।

नरेश की आयु है जब वीर्य परिपक्व होने लगता है और चंदा की आयु में लड़की मातृत्व के योग्य होने की अवस्था में रहती है। तब प्रकृति के ही कारण पारस्परिक मिलन की चाहना होती है। प्रेम का अन्त संतान में है, न स्त्री में वह अंत है, न पुरुष में ही। इसी अभिव्यक्ति का नाम मिलन है। और यह मशीन का-सा मेरा विवेचन ही क्या मनुष्य के अध्ययन के लिए पूर्ण है? नहीं, मनुष्य इन सब छोटे चिन्तनों से बड़ा है। उसकी महात्वाकांक्षा बहुत बड़ी है। काश, सुखराम भी मेरे शब्दों में ही मनुष्य के जीवन के इस सार्थक महत्व को समझ पाता। उसके लिए यह उतना ही असम्भव है जितना नरेश के माता-पिता के लिए इसे समझना मुश्किल है।''[2]

'जंगल के फूल' में राजेन्द्र अवस्थी ने 'सुलक' के माध्यम से 'प्रेम' और 'विवाह' जैसे पवित्र प्रसंगों पर व्यंग्य किया है। 'महुआ' विवाह के लिए 'सुलक' पर दबाव डालती है किन्तु सुलक झल्लाकर कहता है -''हमारे सिर पर गाज गिर रही है और तुझे पेंडुल की सूझती है। इसीसे तो कहता हूँ कि औरत की जात का कोई ठिकाना नहीं। उसे बस पिरेम चाहिए। पिरेम-भर मिले तो वह जिंदगी भर भूखी रह सकती और

---

१. कब तक पुकारूँ, पृष्ठ-३४१

२. वही, पृष्ठ-२९

सारी जिंदगी एक ही जगह, एक ही धुन में बैठ कर गुजार सकती है। अरी, बिहाव तो एक पड़ाव है। जब आदमी चलते-चलते थक जाता है तो किसी मेंड़ का आसरा ले लेता है; बस। हम अभी थके थोड़े हैं।... पेंडुल में क्या धरा है महुआ! दुनिया जानती है, हम एक हैं। देवी के सामने भी हमने कसम खा ली, बस, अब क्या है?''[1]

देवेन्द्र सत्यार्थी कृत ब्रह्मपुत्र का 'धनसिंह' भी शादी को 'काठ की हाँडी' के सिवाय कुछ नहीं मानता।-

''शादी तो काठ की हाँडी है; यह बस एक बार ही चढ़ती है, आग पर। वैसे तो चाहे जितनी बार झक मारते रहो।''[2]

विवाह के पश्चात् बहु के लिए ससुराल बिलकुल नया-सा होता है। आरंभ में उसे सब के सहयोग की जरूरत होती है। वह वहाँ पर स्वयं को सबसे अन्जान पाती है। ऐसे में यदि ससुराल वाले उसे अपना गुलाम समझ उस पर जुल्म ढाने लगें तो चुपचाप सहन करने के सिवा वह कर भी क्या सकती है भला! ऐसी ही स्त्रियों में 'हौलदार' की 'लछमा' भी है। वह गोविन्दी को कहती है ''अरे, तेरे बमकुवा भेल तेरी नानी भौजी के साथ तलटान के खेतों से घर को नहीं लौटे! ओ, अरे, बबा रे! ऐसी चण्डाल ननद परमेश्वर दुश्मन को भी नहीं दे। सासू ने तो मुझे इस घर में आने के दिन से ही अच्छी आँख से नहीं देखा। मरने से पहले, उस वृद्धावस्था में भी इस गोविन्दी को छाती पर बिठा गई। अरे, बबा रे! मै तो अभी अपनी-जैसी चेली समझ कर प्यार से दो भुटीकुन्द दो बाल के-चार लड्डू दे रही थी, और ऊपर से यह इतना बड़ा कलाकन्द का टुकड़ा भी देने वाली थी- मगर, बमकुली अपने जतिए के जैसे भेल मटकाती चली गई!- अरे; अकेली निगरगण्ड बन जाती है, तो यार-दोस्त बना रखा होंगे, उसे मिठाइयों की क्या कमी जिसे.....''[3]

आंचलिक उपन्यासों में विवाह-पूर्व सम्बन्धों, अधिक बच्चे पैदा करने, अन्तर्जातीय प्रेम सम्बन्धों, वासना के भूखे भेड़ियों तथा व्यक्तिगत सम्बन्धों पर भी व्यंग्य की रंग-बिरंगी झलकियाँ दिखाई पड़ती हैं। शादी

---

१. जंगल के फूल, पृष्ठ-२२३

२. ब्रह्मपत्र, पृष्ठ-२७

३. हौलदार, पृष्ठ-

के पहले अनैतिक-गर्भ ठहरने के कारण 'हिरना सांवरी' मानसिक रूप से अत्यधिक पीड़ित दिखाई पड़ती है। वह तरह-तरह की उलझनों में फंसती-निकलती न जाने क्या-क्या सोचती है -"मैने देखा कि मेरे झूठ से दाई-ददा को काफी तसल्ली मिली है। किसी धनवान का इकलौता बेटा घर जमाई बनने वाला था, उनका सब से बड़ा मतलब हल हो रहा था -उनका मुंह बन्द हो गया।

हाँ, यह मेरी भूल जरुर थी कि मै शादी से पहले ही..... लेकिन इस में भी अपने से ज्यादा कसूर संयोगों का पाती थी। यह विधाता का मजाक ही तो था जो मै सिया के साथ इतने कम समय में..... मैंने अधिकांश कुंवारी लड़कियों को कंवारी नहीं पाया था। जो कुंवारी बची हुई थी, वे दूसरी लड़कियों की ओर घृणा से नहीं, बल्कि उत्सुकता से देखती थीं। सच पूछा जाए तो जो अभी तक अछूती थीं, वे साहसी नहीं थीं। कई लड़कियों के कइयों के साथ सम्बन्ध थे। सभी से रुपये रुपये जटकर वे ऐश करती थीं और सालों तक वे उस हालत में नहीं फंसती थीं, जिन में मै फंसी हुई थी।

'शादी के बाद तो यह होने ही वाला था।'- शायद दाई-ददा ने सोचा हो, लेकिन उन्हें क्या मालूम कि शादी की बात ही अभी कितनी डांवाडोल है। मै भयानक मानसिक तनाव में जी रही थी। जिधर भी मेरी नजर उठती, फिर चाहे वे आकाश में उड़ रहे अबाबील होते या कोठरी की छत की सड़ी हुई सींकें, मुझे लगता, ये सब मुझपर ताने कस रहे हैं, हंस रहे हैं मुझपर..... इन सब की आंखें मेरे चेहरे पर न टिककर मेरे पेट पर टिकी हुई हैं और मै चाहे कितने भी कपड़े पहनूं, वहाँ का उभार नहीं छुप सकता।"[1] हिरना ने सोचा था कि, सिया शादी की बात मान जाएगा किन्तु सुशीला ने जब उसे सिया की अनिच्छा की बात बतायी तो उसे आश्चर्य भी न हुआ- "मुझे जरा भी आश्चर्य नहीं हुआ। मैं जानती थी, सिया नहीं मानेगा। वह बेवकूफ था इसीलिए मैंने, केवल मैंने, क्यों, मैंने और सुशीला दोनों ने उसे फांसा था। हम जानती थीं कि वह

१. हिरना सांवरी, पृष्ठ-१९८

33

अपने दोस्तों की कठपुतली है। उसके दोस्तों ने उसे समझाया होगा कि हिरना को तुम पैसा दो, उससे खेलो, पर शादी मत करो। वह छिनाल है, चरित्तर की खोटी है, उस से शादी कर के अपनी जिन्दगी खराब मत करो।''[1]

'जल टूटता हुआ' में अन्तर्जातीय प्रेम-सम्बन्धों पर घृणित दृष्टि-पात करने वाले समाज के लोगों, उनकी संकुचित मान्यताओं पर व्यंग्यात्मक चोट लेखक ने किया है- ''हम एक-दूसरे के कितने करीब हैं बदमी, और हमने एक सही चीज को देख लिया है, पहचान लिया है, लेकिन उसे पकड़ने से डरते हैं, उसे पाने में डरते हैं क्योंकि हमारे समाज का एक बहुत बड़ा झूठ हमारे बीच में आ खड़ा होता है- हम बाभन-कंहार हैं। यह कितना बड़ा झूठ है बदमी, कितना बड़ा झूठ, सच तो इतना ही है कि मैं कुंजू हूँ और तू बदमी है।''[2] 'कब तक पुकारुँ' की 'सोनौ' अपनी बेटी को 'ठकुरानी' समझ कर मन-ही-मन बेहद खुश होती है किन्तु 'इसीला' उसे अपनी जात का अहसास दिलाता है- सोनौ, ताल के बंधे पानी को बार-बार धूप में सूखकर बरसात में ही मरना ठीक रहता है, क्योंकि वह नदी की तरह बह नहीं पाता। तू अपनी जात भूल रही है। जाने किस-किस से सुजाक ले आई थी, मैंने ही उसका इलाज किया था। फिर मुझसे तू पारसा बन रही है ?''[3]

दूसरी तरफ लेखक चंदा और नरेश के प्रेम-सम्बन्ध को लेकर उसके संभावित दूरगामी परिणामों तथा कुत्सित समाज की मनोवृत्ति को व्यंग्यपूर्ण नजरों से देखता है- ''मै वर्ग-संघर्ष के वैज्ञानिक विश्लेषण से समझ नहीं पा रहा हूँ कि यह क्यों उस नटनी से प्रेम करता है। इसलिए कि उससे कुछ वर्ग-स्वार्थ साधना करना चाहता है! मै अपने कुत्सित समाज-शास्त्र पर स्वयं ही जघन्यता का अनुभव करने लगा हूँ। क्या मै सचमुच चंदा और नरेश की इस कथा को लिख कर मनुष्य के विकास के रास्ते में रोड़ें बिछा रहा हूँ ?''[4]

---

१. हिरना सांवरी, पृष्ठ-२०३
२. जल टूटता हुआ, पृष्ठ-१७६
३. कब तक पुकारूँ, पृष्ठ-२४
४. वही, पृष्ठ-३०

'अलग-अलग वैतरणी' में शिवप्रसाद सिंह ने अन्तर्जातीय प्रेम-सम्बन्धों पर सामाजिक विरोधों की हंसी उड़ाई है। सरूप भगत जानते हैं कि 'परेम' कोई बुरी चीज नहीं -"मगर ई कैसा 'परेम' भाई! आज तक किसी रजपूत-बामन की लड़की के साथ चमार-दुसाध का परेम काहे नहीं हुआ? और फिर करते हो तो झेलो। परेम करने वालों को किसी की कब परवाह होती है? 'परेम' का सारा संकट गरीबों के सिर पर डालकर भागते काहे हो?..... ई सही है कि ऐसे भी लोग हैं जिन्होंने जात-कुजात की परवाह न करके चमारिनों के साथ घर बसा लिया। मगर ऐसे लोग हैं कौन? वे जिसकी जात में नहीं चलती। वे, जो अपने को जात से बहरियाये जाने से बचा नहीं सकते। डिहवा के सेवा उपधिया का लोग 'परमान' देते हैं। सेवा जनम के कुजात थे। कहीं विवाह नहीं हुआ। उन्हें मेहरारू चाहिए थी। चाहे ऊ जात की हो तो, कुजात की हो तो। बस, लेकर बैठ गए। दो, एक 'करिया' बामनों ने चमारिने रख लीं तो 'परमान' हो गया।"[१]

'हौलदार' में 'शैलेश मटियानी' ने 'गोबर सिंह और उसकी पत्नी 'लछमा' की ओर संकेत करते हुए उन मध्यवर्गीय लोगों की हंसी उड़ाई है जो लगातार बच्चा ही पैदा करते जाते हैं, उन्हें इसका ध्यान नहीं रहता कि आगे उन बच्चों का भविष्य क्या होगा। जानते हुए भी वे इस दिशा में कोई कदम नहीं उठाते -"गोबर सिंह घर-गिरस्ती की और बातों से भले ही लापरवाह रहे, पर बच्चे पैदा करने की दिशा में लापरवाही लछमा उसे करने नहीं देती थी। सो ईश्वर की दया से, नौ मुंह के सामने थे और दसवाँ पेट में। करम सिंह की जैता बिन गोद भरे ही विधवा हो गई थी। सो लछमा ही घर की घरिणी थी। जैता को वह अमंगला समझती थी, सो खुद जैता के अमंगल में लगी रहती थी।"[२]

आज का समाज कितना विशैला हो गया है। पग-पग पर कांटे चुभते हैं। फूल तो मुरझाये नजर आते हैं। लड़कियों, औरतों के लिए हर

---

१. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ-४०७

२. हौलदार, पृष्ठ-१५

जगह खतरा। उन्हें देखते ही लोग तरह-तरह कि बातें करते हैं, न जाने क्या-क्या और कैसी-कैसी विकृतियाँ उनके मन में हिचकोरें लेती रहती हैं। 'चिट्टीरसैन' की 'रमौती' को अपने चारो ओर भिनभिनाती मक्खियों की भाषा समझ में आ रही थी- "गाँव-घर का मामला है, जरा खाँसने-खँखारने को भी बाहर मुँह निकालो, तो किसी-न-किसी की नजर पड़ ही जाती है- "क्यों, वे, क्या हुआ?" फिर बहू-बेटी का काम हमेशा बन-खेत का रहता है। आते-जाते में सात जात के लोगों से टक्कर होती है और बच के निकलो, तो "ऐसौ ही शरम-लाज थी, तो गू में मुँह डाला ही क्यों था?" और निश्चिंत-निर्बन्ध पाँव धरो, तो "बिशरम देखे, पर ऐसा बिशरम न देखा। बाप रे, करम से देखो तो पापिणी, चाल से देखो तो साँपिणी। ओबा, इसकी कमर को तो अपने घाघरे का नाड़ा नहीं दिखता।"[१] 'चिट्टीरसैन' का नाथू हौलदार जब घर के समीप पहुँचता है तो देखता है कि दो-तीन औरतें सामने से खिलखिलाती, आपस में बातें करती आ रही थीं। "एक ने दूसरी को चिकोटी काटी -"यह रमौजी बड़ी जबर निकली, वे! मेरी नानी (छोटी बच्ची) के बौज्यू को परदेश गए अठार बरस हो गए। अब थोड़ी लौटते हैं? पर, ईश्वर देखने वाला है, एक जिबुली को बनाके दे गए थे, उससे दूसरे को छाती का दूध नहीं सौपा। फिर भी जोड़ने वालों ने किस-किस से मेरी सटबट नहीं बतायी? यार वे, जवान्यू के दिन तो जैसे मैंने काटे, मेरा दुश्मन भी न काटे। जरा छाती पर से धोती सरकी नहीं, कि लोग ऐसी हाय भरते थे, जैसे स्याप ने डँस लिया हो। जरा चलते में मैलों में लचक आई नहीं, कि--- यार वे, मरदों की जात बड़ी चटुली होती है।....."

"औरत जात की जवानी से मरदों की दूध-बिरालू (बिल्ली) की साँठ-गाँठ होती है, वे! दूसरी गदगदा कर, बोली - 'और जिस धरणी को दूध की फिकर होती है, वह ठेकी-बरतन सँभाल के रखती है। बिन ढक्कन-पहरे के दूध-दहीं पर न-जाने कब किस बिरालू-बनढ़ाड़ की नजर पड़ जाए..... और दिदी, धन कह तेरे सत को, कि अठार-अठार बरस बिना खसम के काट दिये।"[२] यहाँ लेखक ने पुरुष की

---

१. चिट्टीरसैन, पृष्ठ-११८

२. वही, पृष्ठ-१२३

घटिया मनोवृत्ति पर व्यंग्य किया है। स्त्री को देखते ही पुरुष वासनासिक्त हो जाता है। ऐसे पुरुषों पर भी शैलेश मटियानी ने व्यंग्य-बाण छोड़ा है -"नाथू हौलदार से झुटका लगाने की बात से, रमौती के प्रति बहुतों की वासना उमड़ आई थीं और चूँकि उनकी इस संयोग-वश उपजी वासना और आसक्ति की तृप्ति का कोई सुलभ-साधन नहीं था, इसलिए उनकी अतृप्ति प्रतिशोधात्मक-रुख अपना कर, अपना आक्रोश मुखर करना चाहती थी"।[१]

आंचलिक उपन्यासों में व्यक्तिगत व्यंग्यों का भी समावेश बहुतायत हुआ है। समाज का स्तर व्यक्तिगत तनावों के कारण और नीचे गिरा है। लेखकों ने व्यक्तिगत व्यंग्यों का आश्रय लेकर मनुष्य के आपसी मतभेद, कटुता आदि की आलोचना की है। 'हौंलदार' का डूँगर सिंह बिल्कुल अकर्मण्य होता है, घर में होते हुए भी उसे अपनी घर-गृहस्थी से कोई मतलब नहीं रहता था।- "डूँगर सिंह बिना जोते बछड़े-सा था। जैसे बिन जोत का बहौड (बछड़ा) मूत-मूत कर खड्ड खोदता रहता है और घुटने टेककर 'डुक्क' मारता रहता है..... डूँगर सिंह भी गृहस्थी के नफे-टोटे से बेखबर, निगरगंड फिर रहा था। बयार न जाने किधर बहती थी, डूँगर सिंह के अंगूठे से।"[2] किन्तु डूँगर सिंह भी जानता था कि, "गुड़ चटा देने से डंक मारने वाली मधुमक्खी भी काबू में की जा सकती है।"[3] 'हौलदार' का डूँगर सिंह, थोकदार से अपने ही घर वालों पर खेदपूर्ण स्वर में व्यंग्य करता है -"मैंने तो आपसे पहले ही कह दिया था कि, आपके समझाने-बुझाने की वकत-कीमत गाँव के हर घर में हो सकती है, क्योंकि, आप इस गाँव के थोकदार हैं, सिरताज बुजुर्ग है- मगर, हमारे घर के दुष्ट लोगों के लिए तो यही बात है कि, 'हांथी की सलाह शेरों की समझ में भले ही आ जाए, पर स्यालों ने तो उसे पाद मार के उड़ा देना है।.....,"[४] खिमुली भी डूँगर सिंह को व्यंग्य की भाषा में समझाती है -"गाई का अमरित-जैसा दूध सर्प के मुंह में जाके विष

---

१. चिट्ठीरसैन, पृष्ठ-१६७

२. हौलदार, पृष्ठ-१४

३. वही, पृष्ठ-८६

४. वही, पृष्ठ-१०४

बन जाता है। तुम्हारा तो मच्छरों जैसा स्वभाव है, देवर, जो भाई की कचुनी में बैठकर भी, दूध की जगह, खून ही पीता।''[१]

'ब्रहमपुत्र' का 'अतुल' मनुष्य की बुद्धि पर छींटाकसी करता है -''सब पशुओं में बच्चा माँ के दूध पर जीता है। आप ने देखा होगा कि मनुष्य गाय का दूध पीता है। इस हिसाब से मनुष्य बछड़ा ही तो हुआ। बुद्धि में मनुष्य गाय से बढ़कर नहीं हो सकता।''[२]

उपन्यासकारों ने समाज और मनुष्य के विभिन्न वैचारिक पहलुओं एवम् परम्परागत मूल्यों से सम्बन्धित विकृत मनोवृत्तियों पर अनेकों व्यंग्याक्षेप किए हैं।-'अलग-अलग वैतरणी' में शिवप्रसाद सिंह ने मनुष्य की स्वार्थपरता पर भी छींटाकसी की है- ''जरूरत है एक ऐसे हाड़-मांस के यंत्र की, जो दिल और दिमाग न रखता हो, जो दूसरें की हाँ में हाँ मिलाया करे। और उनके गन्दें स्वार्थो का साधन बन जाये। हमारे जैसे लोगों की यही नियति है।''[३]

'कब तक पुकारूँ' में लेखक ने सूसन के अंन्तर्द्वन्द के माध्यम से अंग्रेजों की महत्वाकांक्षा एवं मानवीय मूल्यों के प्रति सोच पर व्यंग्याक्षेप किया है।- ''क्लाइव एक नींच और झूठा आदमी था। उसने साम्राज्य बना डाला। वह महान हो गया। इग्लैन्ड के दृष्टिकोण से वह महान हो सकता है, मानवीयता के मूल्यों से भी क्या वह महान था? यदि था तो फिर कोई भी अत्याचारी महान क्यों नहीं है?''[४]

''माँ चाहती है कि उसका पुत्र सदैव उसकी ही आज्ञा पर चले। पर पुत्र नहीं मानता। विलायत में पाल-पोस कर आजाद कर देते हैं, पर अपने यहाँ जानवरों में यह बात समझी जाती है। इंसानियत के नाते इससे ऊपर सोचा जाता है।''[५]

घृणा में बहुत बड़ी अन्धी शक्ति होती है, क्योंकि वह मनुष्य को बहुत-सी विकृत्तियों की ओर खींच लेती है। वहाँ तर्क के ऊपर मनुष्य

---

१. हौलदार, पृष्ठ-१०५
२. ब्रह्मपुत्र, पृष्ठ-३७
३. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ-३६८
४. कब तक पुकारूँ, पृष्ठ-३५६
५. वही, पृष्ठ-३४१

का कलुश जाग उठता है।

घृणा जब समर्थ में आती है तो वह वीरता बनती है। किन्तु जब निर्बल मनुष्य को घृणा सांप के जहर की तरह व्याप जाती है। वह उस समय सब भूल जाता है। उसका एक ध्येय होता है कि किसी तरह उसका काम हो जाए, ताकि उसके बाद वह विकृति और जघन्य प्रतिहिंसा की तृप्ति में नीचता से हंस सके। और इस तरह के काम में किसी को माध्यम बनाना चाहता है।''[१]

सुखराम के आश्वासन से कजरी को ऐसा लग रहा है जैसे उसने बात नहीं की है, एक बड़ा भारी सत्य कहा है, ऐसे जैसे पत्थर पर लकीर खींच दी है। मनुष्य ऐसी प्रतिज्ञा करता है, परन्तु वह नहीं जानता कि उसका अभी इस बात पर अधिकार नहीं हुआ है, परन्तु संवेदना संबल चाहती है और संबल-प्राप्ति आत्मविश्वास की चरमोन्नति है।[२]

'रांगेय राघव' ने गरीबों की विवषता का जिक्र करते हुए मनुष्य की नियति पर व्यंग्य किया है -''सुखराम कहता था कि जाड़े में उसे बहुत कष्ट होता है। उसकी लस्ती से बहुत तकलीफ होती है क्योंकि उन लोगों के पास कपड़े नहीं होते।

इसलिए वे आग जलाकर चारो ओर बैठ कर हाथ और शरीर तापते हैं। फिर उससे काम नहीं चलता तो पौरुष और स्त्रीत्व एक-दूसरे को तप्त करने का यत्न करते हैं। सब-कुछ घृणित! एक भयानक सूनापन मुझे इस विचार से ही खाए जा रहा है कि मनुष्य को यह सब सहन करना पड़ता है।''[३]

वह चंदा और नरेश को अपनी वैचारिक केन्द्रभूमि में रखकर उनकी विवषता पर व्यंग्य करता है -''सब कुछ बदल रहा है और बदलता चला जाएगा, परन्तु जीवन की यह रेखा सीधी कभी भी नहीं चल सकेगी, क्योंकि वह बिन्दु-बिन्दु के संघर्षो और द्वन्दों से ही आगे बढ़कर चित्र

---

१. कब तक पुकारूँ, पृष्ठ-३००

२. वही, पृष्ठ-१४१

३. वही, पृष्ठ-२८

का रूप धारण करती है। और वह चंदा जो अपने रूप में अप्रतिम है, उसे मनुष्यता का पूर्ण अधिकार नहीं है। उसका मुंह देखकर मुझे वीनस की याद हो आती है। वह कितनी सुंदर है कि यदि यह मध्यकाल होता तो कोई भी राजा उसको अपनी रानी बना सकता था। किन्तु यह अधिकतर केवल समर्थ को ही प्राप्त था, नरेश को नहीं।''[१]

निश्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि आंचलिक उपन्यास जीवन के व्यापक धरातल को स्पर्श कर उसकी विद्रूपताओं, विसंगतियों एवं विकृतियों को वैज्ञानिक ढंग से उद्घाटित करते हैं। यह अभिव्यक्ति व्यंग्य के माध्यम से ही सशक्त रूप से मुखरित होती है। उपन्यासकारों के द्वारा किये गए व्यंग्य ग्रामीण एवं सम्बन्धित अंचलों में परिव्याप्त सामाजिक विकृतियों एवम् विद्रूपताओं पर जोरदार कुठाराघात करते हैं। आंचलिक उपन्यासों में समाज के खोखलेपन को व्यंग्य के द्वारा प्रस्तुत किया गया है। क्योंकि व्यंग्य अपने समाज को टटोलता है, विसंगति अथवा विद्रूपता की एक-एक पर्त को उखेड़ता चलता है- वास्तविकता एवम् ईमानदारी की भाषा में। व्यंग्य व्यक्ति और समाज की कमजोरियों, दुर्बलताओं तथा कथनी-करनी में अन्तरों की आलोचना अथवा निन्दा, भाषा की वक्रता अथवा टेढ़ी-मेढ़ी भंगिमा से, कभी-कभी पूर्णत: सपाट शब्दों से प्रहार करता है। आज समस्त प्राचीन स्वीकृत जीवन-मूल्य असंगत हो गए हैं। आचार-संहिताएँ और नैतिक मान्यताएँ दम तोड़ रही है। व्यंग्यकार समाज में जो कुछ सड़ा-गला है, उसे दूर करने का सार्थक प्रयास करता है। उपन्यासकारों की सूक्ष्मपरक दृष्टि समस्त सामाजिक परिवेश एवं परिस्थितियों के प्रति जागरूक रही है जिसके कारण सामाजिक यथार्थ विभिन्न आयामों में व्यंग्यात्मक रुप से उद्घाटित होकर उनकी रचनाशीलता में प्रतिपदित हुआ है। सामाजिक परिवेश की संश्लिष्ट विसंगतियों का समाधान व्यंग्यात्मक, अनुभूत्यात्मक स्तर पर कर उपन्यासकारों ने अपनी जागरूक दृष्टि का परिचय दिया है। उनका व्यंग्य सृजन-प्रक्रिया से सम्बद्ध है जो सामाजिक जीवन में नैतिकता की प्रतिष्ठा पर बल

---

१. कब तक पुकारूँ, पृष्ठ-३३

देता है।

सारा समाज अपनी विडम्बनाओं को ही नियति मानकर गतिशील है। आंचलिक उपन्यासों में सामाजिक जीवन को यथार्थ रूप में तटस्थ दृष्टि से समकालीन परिवेश में प्रस्तुत करने का प्रयत्न उपन्यासकारों ने किया है। प्रस्तुत आंचलिक उपन्यासों के व्यंग्य सामाजिक जीवन के यथार्थ के अत्यधिक निकट हैं।